नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचार पत्र • वर्ष 5 अंक 1
फरवरी 2003 • तीन रुपये • बारह पृष्ठ

मेहनतकश अवाम को बाँटने-कुचलने वाली साम्प्रदायिक फासीवादी राजनीति का खूनी खेल और इस दुश्चक्र से बाहर निकलने का रास्ता

● सम्पादक मण्डल

भारतीय राजनीति का गुजरात-वाद का "चाल-चेहरा-चरित्र" अब एकदम साफ हो चुका है।

गुजरात-नरसंहार की चुनावी फसल काटने के बाद, संघ परिवार और उसकी चुनावी शाखा भाजपा ने आगामी चार विधान सभाओं से लेकर अगले वर्ष होने वाले लोक सभा चुनावों तक के लिए रणनीति-छलनीति, रुख, तेवर, मुद्रा और भाषा सब कुछ तय कर लिया है। नेपथ्य से डोर हिलाने वाले संघ-सूत्र-संचालकों ने बाजपेयी-आडवाणी के बाद की पीढ़ी को मुखर हो जाने के संकेत दे दिये हैं। यह स्पष्ट है कि आने वाले दिनों में ~~मोदिये-तोड़ियों-नायडुओं-जेटलियें-महाजनों~~ की भूमिका ज्यादा से ज्यादा अहम होती जायेगी, उद्धत उन्माद की भाषा आम हो जायेगी और जैसा कि यह गिरोह खुद ही बार-बार कह रहा है, गुजरात प्रयोग (धार्मिक आधार पर कत्लेआम) को पूरे देश में दुहराने की हरचन्द कोशिशें की जायेंगी। मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश के चुनाव तो महज पूर्वाभ्यास होंगे। सबसे व्यापक और सघन तैयारी तो उत्तर प्रदेश और फिर महाराष्ट्र में की जा रही है। नाटकीय पैंतरापलट करते हुए मन्दिर के सवाल को एक बार फिर केन्द्र में ला दिया गया है। सिंघल और तोगड़िया ने अदालती फैसले को न मानने और हथियार उठाने तक की घोषणा कर दी है। फरवरी के दूसरे सप्ताह में गोरखपुर में विश्व हिन्दू सम्मेलन और तीसरे सप्ताह में दिल्ली में धर्म संसद का आयोजन होने वाला है। गुजरात की ही तर्ज़ पर पूरे देश में त्रिशूल-दीक्षा दी जा रही है और लाखों त्रिशूल बाँटे जा रहे हैं। नौजवानों को उन्मादी नारे देकर ग्रासरूट स्तर पर

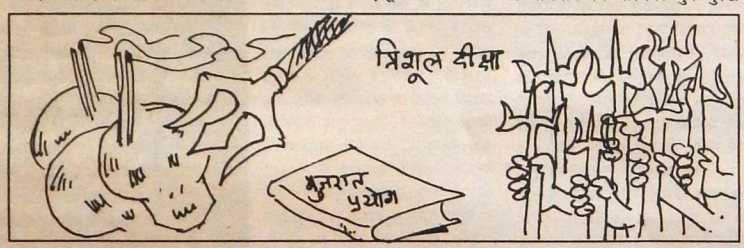

फासिस्ट दस्ते संगठित किये जा रहे हैं। साथ ही पहले की ही तरह, संघ परिवार के भीतर नरमपंथ और कट्टरपंथ का दिखावटी टकराव भी उसी तरह जारी है, जिस तरह एक मुँह से साम्राज्यवादियों को खुली लूट के दावतनामे भेजे जा रहे हैं। दूसरे मुंह से स्वदेशी जागरण का शोर मचाया जा रहा है। यह फासिस्टों की पुरानी फितरत है। इसमें कोई नयी बात नहीं है। इस पूरे परिप्रेक्ष्य में दो और चीजों को जोड़कर देखा जाना चाहिए। पहला, 'टाडा', 'रासुका' की ही कड़ी में अबतक के सर्वाधिक दमनकारी कानून 'पोटा' का निर्माण ओर आतंकवाद से निपटने के नाम पर राज्य सत्ता को जनसंघर्षों से निपटने के सर्वाधिक घातक कानूनी हथियार से लैस किया जाना और फिर इसी कड़ी में एक के बाद एक, कई जनविरोधी-मज़दूर विरोधी नीतियों-कानूनों का निर्माण। और दूसरा, अंधराष्ट्रवादी भावनाओं को जमकर उभाड़ते हुए पाकिस्तान और बांगलादेश के साथ सम्बन्धों में लगातार बिगाड़। ग़ौरतलब है कि यह अंधराष्ट्रवादी लहर जितनी भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता की आज की जरूरत है, उतनी ही यह पाकिस्तान और बांगलादेश की संकटग्रस्त बुर्जुआ राज्य सत्ताओं की भी ज़रूरत है।

साम्प्रदायिक फासीवाद का विरोध करने वाली बुर्जुआ संसदीय पार्टियों की नीतियों की चर्चा हम 'बिगुल' के जनवरी अंक के अग्रलेख में कर चुके हैं। कांग्रेस नरम हिन्दुत्व के सहारे उग्र हिन्दुत्व का मुकाबला करने के गुजरात में आजमाये गये और पिट चुके नुस्खे का यदि फिर से इस्तेमाल कर रही है तो इसका कारण महज यह है कि उसके पास चुनावी राजनीति का अब यही हथकण्डा बचा है। आर्थिक नीतियों के धरातल पर उसके पास विरोध का कोई नारा हो ही नहीं सकता क्योंकि उदारीकरण और निजीकरण उसी ने शुरू किया था और यही बुर्जुआ वर्ग की आम सहमति की नीतियाँ हैं।

तथाकथित तीसरी ताकत नामधारी बुर्जुआ मध्यमार्गी पार्टियों का कुनबा इस कदर बिखर चुका है कि वे चुनावी राजनीति के दायरे में कतई कोई चुनौती नहीं पेश कर सकते। उनमें से कइयों की "धर्मनिरपेक्षता" का आलम यह है कि कब उनके पेट में धर्मनिरपेक्षता की मरोड़ उठने लगेगी और कब वे भाजपा से गाँठ जोड़ लेंगे, यह कोई नहीं बता सकता। दरअसल, यही आज के भारतीय बुर्जुआ जनवाद और पतित सामाजिक जनवाद का चरित्र है। पूँजीवादी व्यवस्था के ढाँचागत संकट ने बुर्जुआ जनवाद और फासिस्ट-अर्द्धफासिस्ट सर्वसत्तावाद के बीच की रेखाओं को एकदम धूमिल कर दिया है। चूँकि क्षेत्रीय और छोटे बुर्जुआ वर्ग तथा कुलकों-फार्मरों ने कुल मिलाकर साम्राज्यवादी और देशी इजारेदार बड़े पार्टनरों की मातहती को स्वीकार कर लिया है, इसलिए उनका प्रतिनिधित्व करने वाली क्षेत्रीय और छोटी बुर्जुआ पार्टियों का चरित्र भी नितान्त अवसरवादी और पतित हो चुका है। सत्ता के लिए आज भाजपा-सहयोगी और कल सेकुलर बन जाने में उन्हें पल भर की भी देर नहीं लगती।

चुनावी वामपंथी पार्टियाँ अपनी सारी ताकत इसी काम में खर्च कर रही

(पेज 5 पर जारी)

बहुद्देश्यीय पहचान-पत्र की साज़िशाना योजना

"पुलिस राज्य" स्थापित करने की दिशा में एक और कदम

पिछले कुछ दिनों से गृह मंत्री लालकृष्ण आडवाणी लगातार यह बयान दे रहे हैं कि जल्दी ही देश के सभी नागरिकों के लिए बहुद्देश्यीय पहचान-पत्र जारी करने की योजना लागू की जायेगी। वह यह भी कह रहे हैं कि 2004-05 तक इस योजना को अमली जामा पहना दिया जायेगा।

उल्लेखनीय है कि इस देश का नागरिक होने के प्रमाण के तौर पर नागरिक पहचान-पत्र जारी करने का काम तो अभी ही जारी है। तब फिर इनकी जगह अरबों रुपये और खर्च करके बहुद्देश्यीय पहचान-पत्र जारी करने का मक़सद आखिरकार क्या हो सकता है?

आडवाणी का तर्क यह है कि देश में लाखों बांग्लादेशी और पाकिस्तानी घुसपैठिये अवैध रूप से रह रहे हैं। उनकी पहचान के लिए और इस अवैध आप्रवासन को रोकने के लिए बहुद्देश्यीय पहचान-पत्र की ज़रूरत है। लेकिन अवैध रुपये से यहाँ आने-रहने वालों की शिनाख्त तो मतदाता पहचान पत्रों के जरिए भी हो सकती है। तो फिर बहुद्देश्यीय पहचान पत्र की ज़रूरत क्या है?

दरअसल, यह देश के नागरिकों पर राज्यसत्ता की निगरानी और जकड़बन्दी को मज़बूत बनाने की एक गहरी और दूरगामी साज़िश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। बहुद्देश्यीय पहचान-पत्र दरअसल एक आन्तरिक पासपोर्ट का काम करेगा जिसमें नागरिकों के सभी ब्योरे दर्ज़ होंगे।

इस साज़िश को समझने के लिए इस तथ्य को बताना हम ज़रूरी समझते हैं कि रूस में भी ज़ार की निरंकुश सत्ता ने पासपोर्ट का कानून बनाकर पूरे देश की जनता के लिए पहचान पत्र के रूप में ऐसे ही आन्तरिक पासपोर्ट जारी किया था। इस आधार पर वहाँ की पुलिस व्यवस्था उन तमाम ग़रीबों का उत्पीड़न करती थी जिन्हें रोजी-रोटी की तलाश में यहाँ-वहाँ भटकना पड़ता था। जिनके पास कोई स्थायी नौकरी नहीं होती थी और काम की तलाश में जो इधर-उधर घूमते होते थे, उन्हें संदिग्ध मानकर जेलों में बन्द कर दिया जाता था, उन्हें तरह-तरह से तंग करके स्थानीय अधिकारी अपनी जेब गर्म करते थे और अक्सर उनके पासपोर्ट जब्त कर लिये जाते थे जिससे रोज़मर्रे के कामों में तमाम परेशानियाँ तो होती ही

(पेज 2 पर जारी)

आपस की बात

आखिर कैसी आजादी?

आज मैं आजाद हूँ,
पर एक शिकंजा मेरे चारों ओर कसा हुआ है,
उन घूरती आँखों का,
जो घर से निकलते ही
मुझे अपने में कस लेता है,
जैसे कि मै कोई मनुष्य नहीं,
एक बाजारी, उपभोग की वस्तु हूँ,
ऐसा कब तक चलेगा,
आखिर कब तक?
आकाश में कौंधने वाली बिजली
बन जाना होगा,
और गिर पड़ना होगा, इस पौरुषपूर्ण समाज पर,
जो हमें आँखों ही आँखों में अपना शिकार बना डालना चाहता है, खा जाना चाहता है,
इस सब के लिये जरूरत है,
संगठित होने की, लामबन्द होने,
एकत्रित होने की,
सोचने की, समझने की,
हमें अपना संदेश हर कोने तक पहुँचाने के लिए,
चिन्गारी बन जाना होगा और छिटक जाना होगा, चारों तरफ,
ताकि जो आग हमारे अन्दर सुलग रही है,
उसकी आँच हर उस औरत तक पहुँच सके,
जो चाहती है आजादी,
बस पूर्णत: आजादी।

मंजू , दिल्ली

अपनी राह खुद निकालनी होगी

मै नोएडा सेक्टर-दो स्थित अग्रवाल मार्केटिंग कम्पनी में हेल्पर का काम करता हूँ। फैक्ट्री का इकलौता मालिक ओम प्रकाश अग्रवाल है। यहाँ मुख्य रूप से तारकोल के जरिये पेपर व चट्टी (टाट) का लेमिनेशन किया जाता है। मेरी फैक्ट्री में वेतन मिलने का कोई फिक्स समय नहीं है। 10 तारीख से लेकर 20 तारीख के बीच किसी भी दिन मिल सकता है। मेरी फैक्ट्री में कोई यूनियन भी नहीं हैं।

मेरी फैक्ट्री में प्रदूषण बहुत भीषण है। काम भी बहुत भारी है। कागज की बड़ी-बड़ी 400किलो की रील को जब मशीन पर चढ़ाकर एक व्यक्ति को जब उसकी गति को नियत बनाये रखने के लिए बोरे की सहायता से पेट और सीने से दबाना पड़ता है तो अंतड़ियाँ सट जाती हैं। ठीक इसी समय तारकोल का विषैला धुआँ फैक्टी में भर जाता है। इस समय काम करना असंभव हो जाता है। इस पर मैंने कुछ साथ काम करने वाले मजदूरों के सुपरवाइजर से बात की तो बोला तारकोल का धुआँ नहीं निकलेगा तो क्या सेण्ट निकलेगा। मालिक भी इसको जानता ही होगा। पर उसको क्या? वह तो दिल्ली में बैठा रहता है, उसको तो सिर्फ अपना मुनाफा चाहिए। मुनाफाखोरों को मजदूरों के दुख-दर्द से क्या लेना-देना। अपनी राह तो हम मजदूरों को खुद ही निकालनी होगी।

ईश्वर, नोएडा

> "क्रान्ति कोई दावत देने, अथवा कोई लेख लिखने या तस्वीर बनाने, या उम्दा कढ़ाई करने जैसी चीज नहीं है; क्रान्ति ऐसी कोई नफीस, शान्त और शिष्ट, नम्र, दयालु, सुशील, संयत और उदार चीज नहीं हो सकती। क्रान्ति एक विद्रोह है, एक हिंसात्मक कार्रवाई है, जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे वर्ग का तख्ता उलट देता है।"
>
> *ओ माओ त्से-तुङ*

देश के नागरिकों पर सत्ता की निगरानी और जकड़बन्दी की गहरी और दूरगामी साजिश ...

(पेज 1 से आगे)

थीं, कोई काम मिल पाना भी असम्भव हो जाता था। ऐसी सूरत में बहुत कम पैसे पर अवैध रूप से काम करके मजदूर अपने पेट की आग बुझाते थे। जिन गरीबों के पासपोर्ट गुम या नष्ट हो जाते थे, उन्हें भी इन्हीं परेशानियों का सामना पड़ता था और नया पासपोर्ट बिना तमाम क़ानूनी परेशानियाँ उठाये और घूस दिये बन नहीं पाता था। इसका दूसरा अहम इस्तेमाल राजनीतिक दमन-उत्पीड़न के लिये किया जाता था। राजनीतिक आन्दोलनों-प्रदर्शनों में शामिल होने वालों के पासपोर्ट ज़ब्त कर लिये जाते थे। यदि कोई व्यक्ति किसी मजदूर इलाके में पाया गया और वह पास के किसी कारखाने में काम नहीं करता तो "संदिग्ध" मानकर उसका पासपोर्ट ज़ब्त कर लिया जाता था या उसे गिरफ्तार कर लिया जाता था। इस तरह, राजनीतिक गतिविधियों की आज़ादी पर एक कारगर रोक के तौर पर भी पासपोर्ट क़ानून का इस्तेमाल किया जाता था। रूस के क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन ने राजनीतिक अधिकार के लिए संघर्ष के एक अहम मुद्दे के तौर पर पासपोर्ट-व्यवस्था को समाप्त करने की माँग की थी और यह माँग की थी कि नागरिकों को बिना अधिकारियों की इजाज़त के कहीं भी आने-जाने की और एक जगह से दूसरी जगह जा बसने तक की इजाज़त होनी चाहिए।

हमारे देश में भी, एक के एक बाद काले क़ानून बनाकर दमनतंत्र को पूरी तरह से चाक-चौबन्द कर देने वाली भाजपा सरकार अब बहुद्देश्यीय पहचान-पत्र का नियम लागू करके एक तरह की आन्तरिक पासपोर्ट व्यवस्था क़ायम करना चाहती है और जारशाही जैसा ही "पुलिस राज्य" क़ायम करना चाहती है ताकि आने वाले दिनों में मेहनतकश जनता के किसी भी उभार को, आसानी से दबाया जा सके और पूँजीवादी निरंकुश तंत्र के हर विरोध का गला घोंटा जा सके। भाजपा सरकार के इस निर्णय का कोई भी बुर्जुआ पार्टी या बात बहादुर संसदीय वामपंथी तक, विरोध नहीं करेंगे क्योंकि यह पूरे शासक वर्ग की ज़रूरत है। पूँजीवादी व्यवस्था के संकट और बदहाल जनता के बेपनाह गुस्से के किसी भी सम्भावित विस्फोट को देखते हुए पूँजीवादी दमन तंत्र और निगरानी-तंत्र को चाक-चौबन्द बनाने की जो कोशिशें की जा रही है, बहुद्देश्यीय पहचान-पत्र की स्कीम भी उसी की एक कड़ी है।

बहुद्देश्यीय पहचान-पत्र का इस्तेमाल सर्वोपरि तौर पर राजनीतिक कार्यकर्ताओं की आवाजाही और गतिविधियों पर रोक लगाने और निगरानी रखने के लिए किया जायेगा। दूसरे नम्बर पर, राजनीतिक आन्दोलनों-प्रदर्शनों में व्यापक आम जनता की भागीदारी को रोकने के लिए इनका इस्तेमाल किया जायेगा। लेकिन बात सिर्फ इतनी ही नहीं है। शासक वर्ग इसके जरिये भारी जनाक्रोश की आग से अपने नन्दन-कानन को सुरक्षित रखने का एक दूरगामी कदम भी उठाना चाहता है। यह सच्चाई आज सबकी नज़रों के सामने है कि निजीकरण-उदारीकरण की इस अंधी लहर में प्रतिवर्ष करोड़ों छोटे किसान और छोटे उद्यमी अपनी जगह-जमीन से उजड़कर बड़े शहरों की ओर भाग रहे हैं। चूँकि उद्योगों में भी उन्हें दिहाड़ी या ठेके पर ही काम मिलता है, इसलिए बेहतर रोजगार की तलाश में करोड़ों मजदूर सालाना इस शहर से उस शहर, इस साइट से उस साइट दर-ब-दर होते रहते हैं। सभी प्रमुख महानगरों के ऊँचे लोगों के रिहाइशी इलाकों के चारों ओर उजरती गुलामों की बस्तियों का विस्तार फैलता जा रहा है। बदहालों की इन अंधेरी बस्तियों के लोगों को देखकर, विपन्नता के इस सागर को देखकर समृद्धि के टापुओं के निवासियों के दिलों में भय की लहर सी उठने लगती है। और सत्ताधारियों को अपने शासन केन्द्रों की सुरक्षा की चिन्ता सताने लगती है। लातिन अमेरिकी देशों में भूमण्डलीकरण की नीतियों से तबाह लाखों मजदूरों की आबादी हर महानगरों के आसपास की झुग्गी बस्तियों में केन्द्रित हो गयी है। ये झुग्गी बस्तियाँ सत्ता के विरुद्ध उग्र आन्दोलनों और जन विद्रोहों का केन्द्र बनती जा रही हैं। पहले इन देशों में तानाशाही सत्ताओं के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोहों के केन्द्र सुदूर पहाड़ी और देहाती इलाकों में स्थित हुआ करते थे। अब बारूद की यह ढेरी उद्योगपतियों नेताओं-अफसरों-व्यापारियों के रंगमहलों और मंत्रणा कक्षों के पास इकट्ठा हो रही है। चूँकि भारत के शासक वर्ग भी उन्हीं आर्थिक नीतियों को लागू कर रहे हैं, इसलिए इसके नतीजों को लेकर वे अभी से चिन्तित हैं और सूझ-बूझ के साथ अग्रिम तैयारियों में लगे हुए हैं। पूँजी अपनी आन्तरिक गति से मेहनतकशों को दर-बदर करने का काम करती रहेगी। यह पूँजीपति वर्ग और उनके राजनीतिक नुमाइन्दों की इच्छा से स्वतंत्र गति है। हुकूमत सिर्फ इतना कर सकती है कि मेहनतकशों की भारी आबादी को क़ानून और डण्डे के ज़ोर से यहाँ-वहाँ बिखेरती रहे और सत्ता-केन्द्रों के इर्द-गिर्द उनका भारी जमाव न होने दें। याद करें कि बीते साल किस तरह राजधानी का पर्यावरण शुद्ध करने के लिए रिहायशी इलाकों से उद्योगों को हटाने की आड़ लेकर पच्चीस लाख मजदूरों को राजधानी दिल्ली के मुख्य दायरे से बाहर खदेड़ दिया गया। पिछले चार-पाँच वर्षों से दिल्ली के अलग-अलग इलाकों से अनधिकृत झुग्गियों को उजाड़ने और फुटपाथिया बाजारों, रेहड़ी-खोमचे-ठेले वालों को हटाने का काम लगातार जारी है, लेकिन अब इस पर बुर्जुआ मीडिया के भोंपू 'पीं' की आवाज तक नहीं करते। अब दर-बदर हो रही मज़दूर आबादी को बिखराने-निर्यत्रित करने का एक नया हथकण्डा बहुद्देश्यीय पहचान-पत्र के रूप में अपनाया जाने वाला है। जो हूबहू ज़ारशाही की आन्तरिक पासपोर्ट व्यवस्था जैसा ही होगा। अन्यथा, मतदाता पहचान पत्रों के प्रावधान के अमल के बीच ही इस नये शिगूफे की और कोई ज़रूरत नहीं थी। मज़दूर वर्ग को राजनीतिक अधिकार पर इस सम्भावित हमले के विरुद्ध आवाज़ उठानी होगी और पूरी जनता को इस सम्भावित ख़तरे से आगाह करना होगा।

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियां

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मजदूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मजदूर आंदोलन के इतिहास और सबक से मजदूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूंजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मजदूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मजदूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूंजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी देडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

'बिगुल'

सम्पादकीय कार्यालय	:	69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
सम्पादकीय उप कार्यालय	:	जनगण होम्यो सेवासदन मर्यादपुर, मऊ
दिल्ली सम्पर्क	:	सत्यम वर्मा, 81, समाचार अपार्टमेन्ट मयूर विहार, फेज-1 दिल्ली-91

मूल्य - एक प्रति -रु. 3/-
वार्षिक - रु. 40.00 (डाक व्यय सहित)

'बिगुल'

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध

1. डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
2. जनचेतना स्टाल, काफी हाउस बिल्डिंग, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 4:00 से 7:00 बजे तक)
3. जाफ़रा बाजार, गोरखपुर -273001
4. 989, पुराना कटरा, यूनिवर्सिटी रोड, मनमोहन पार्क, इलाहाबाद

मेहनतकश साथियों के लिए कुछ जरूरी पुस्तकें

- कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा- लेनिन 5/-
- मकड़ा और मक्खी- विल्हेल्म लीब्कनेख्त 3/-
- देड यूनियन काम के जनवादी तरीके-सर्जी रोस्तोवस्की 3/-
- अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं 10/-
- समाजवाद की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति 12/-
- क्यों माओवाद? 10/-
- मई दिवस का इतिहास 3/-
- अक्टूबर क्रान्ति की मशाल 12/-
- पेरिस कम्यून की अमर कहानी 10/-
- बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में 3/-

बिगुल विक्रेता साथी से मांगें या इस पते पर 10 रुपये रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर मनीआर्डर भेजें :

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ

किसानी के सवाल पर कम्युनिस्ट दृष्टिकोण पर बहस :
एक पत्र और उसका सम्पादकीय उत्तर

छोटे-मँझोले किसानों को कम्युनिस्ट किन मांगों पर साथ लेंगे?

पूँजीवादी खेती के संकट और छोटे-मँझोले किसानों के सवाल पर 'बिगुल' के जनवरी अंक में सम्पादकों के दृष्टिकोण के बारे में पढ़ा।

'बिगुल' का सम्पादक-मण्डल और कामरेड नीरज और कामरेड सुखदेव जैसे लोग मुझे मार्क्सवाद की किताबी समझ से ग्रस्त प्रतीत होते हैं। आपकी लाइन का तो कुल नतीजा यही निकलेगा कि छोटे मिल्की किसान भी क्रान्ति से दूर भाग जायेंगे। यह बात भी मुश्किल से ही किसी के गले के नीचे उतरेगी कि कर्ज के बोझ से लद और अपनी फसल की लागत तक न निकाल पाने के चलते तबाही की दहलीज़ पर खड़े बड़े किसान मेहनतकशों के दुश्मन और पूँजीपतियों के दोस्त हैं। बड़े किसानों को छोड़ भी दें, तो यदि आप छोटे और मँझोले किसानों को भी सिर्फ़ यही बताते रहेंगे कि पूँजीवाद के अन्तर्गत उनकी तबाही लाजिमी है और इसलिए वे समाजवाद के हिमायती बन जायें, तो क्या वे आपके साथ आ जायेंगे? ऐसा तो कोई शेखचिल्ली ही सोच सकता है। यह तो बताइये जनाब कि समाजवाद के प्रचार के 'स्ट्रैटेजिक' कार्यक्रम के अतिरिक्त छोटे और मँझोले किसानों के लिए आप आम 'टैक्टिकल' नारे क्या देंगे और उसे सीधे समझ आने वाली और उसके वर्ग-हित के अनुकूल लगने वाली प्रत्यक्ष, ठोस माँगे क्या होंगी। गाँवों में कम्युनिस्ट, छोटे-मँझोले मिल्की किसानों का आन्दोलन किन माँगों पर संगठित करेंगे? क्या इस मुद्दे पर आप अपना नज़रिया साफ करेंगे।

एक कार्यकर्ता, रुद्रपुर
(ऊधमसिंह नगर)

छोटे-मँझोले किसान किन माँगों पर लड़ेंगे? मज़दूर आन्दोलन के साथ वे कैसे आयेंगे? उनकी ठोस, तात्कालिक माँगें क्या होंगी?

● सम्पादक मण्डल

किसी साथी ने रुद्रपुर से पत्र भेजकर यह सवाल उठाया है कि समाजवाद के प्रचार एवं शिक्षा के अतिरिक्त गाँवों के छोटे और मँझोले किसानों के आन्दोलन संगठित करने के लिए ठोस कार्यक्रम और नारे क्या होंगे?

यह एक निहायत जरूरी सवाल है। यह स्पष्ट कर दें कि 'बिगुल' के जनवरी अंक में किसानी के सवाल पर सही कम्युनिस्ट दृष्टिकोण के प्रश्न पर विचार करते हुए हमने मुख्यत: लागत मूल्य कम करने की माँग और लाभकारी मूल्य की मांग को चोरफाड़ करने का काम किया था, क्योंकि मुख्यत: यही वह भारतीय नरोदवादी छुतही बीमारी है जो पूरे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन में फैली हुई है। इस नरोदवादी बीमारी का एक और लक्षण है गाँव की भूमिहीन सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी में (पट्टे बाँटने जैसी माँगें उठाकर) जमीन की भूख जगाना और उन्हें मिल्की मानसिकता देने की उल्टी दिशा में ले जाना। इसके बारे में भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण एकदम साफ है। इन्हीं नरोदवादी भटकावों को स्पष्ट करते हुए हमने बताया था कि सर्वहारा वर्ग के हरावल दस्ते गाँव के छोटे-मँझोले किसानों को लगातार यह बताते हैं कि उनकी पूँजीवादी तबाही को रोकने का एकमात्र रास्ता समाजवाद ही हो सकता है। वे बताते है कि पूँजी की ताकत से बड़े मालिक छोटे मालिकों को तबाह करेंगे ही। इस प्रक्रिया को थोड़ा टालकर लम्बा करना दुखदायी ही होगा। वे उन्हें यह भी बताते हैं कि विभिन्न रूपों में सरकारी रियायतें हासिल करके भी वे अपनी क्रमिक तबाही को रोक नहीं सकते और पूँजीवाद के अन्तर्गत यदि वे सहकारी खेती भी संगठित करें तो उसका लाभ सिर्फ बड़े भागीदारों को ही मिलेगा तथा छोटे भागीदारों की तबाही लाजिमी है। अपनी-अपनी वर्ग-स्थिति के अनुरूप छोटे मालिक किसान इस बात को जल्दी समझते हैं, जबकि मँझोले मालिक किसान देर से समझते हैं और उनका एक हिस्सा ही समझता है और समझने वालों का भी एक बड़ा हिस्सा ढुलमुल बना रहता है। कम्युनिस्ट गाँव के गरीबों को लगातार यह बताते हैं कि जमीन के एक छोटे से टुकड़े का मालिक बनकर वे शोषण-उत्पीड़न भरे दुर्दिन से मुक्त नहीं हो सकते। उन्हें फिर भी ज़िन्दगी की न्यूनतम जरूरतों के लिए उजरती गुलामी करनी ही पड़ेगी। इसलिए उन्हें मजदूरी के सवाल पर और मजदूरों के तमाम जनवादी एवं नागरिक अधिकारों के सवाल पर लड़ते हुए, शहरी मज़दूर वर्ग के साथ एका मजबूत करनी चाहिए और समाजवाद की लड़ाई में पूरी जनता की अगुवाई करनी चाहिये।

चूँकि यह कम्युनिस्ट प्रचार एवं शिक्षा ज़िन्दगी को सच्चाइयों से मेल खाती है, चूँकि पूँजीपतियों ओर बड़े किसानों के हाथों तबाही और दिन-रात हाड़ गलाने पर भी नतीजा 'वही ढाक के तीन पात' की स्थिति को छोटे-मँझोले मालिक किसान महसूस करते हैं, इसलिए जब कम्युनिस्ट कार्यकर्ता उन्हें इस स्थिति का, (और इसके आगे की स्थिति का भी) बुनियादी तर्क उन्हें बताते हैं तो बात उन्हें धीरे-धीरे जँचने लगती है।

प्रचार और शिक्षा की इस कार्रवाई को कम्युनिस्ट उपदेशकों-अध्यापकों के अन्दाज़ में नहीं चलाते। रोजमर्रे की ज़िन्दगी के मुद्दों पर रूटीनी संघर्षों और आन्दोलनात्मक कार्रवाइयों के दौरान इसे अंजाम दिया जाता है। गाँवों की आम आबादी के सामने नागरिक एवं जनवादी अधिकारों के अपहरण, नौकरशाही-नेताशाही के भ्रष्टाचार, पुलिसिया दमन आदि से जुड़ी समस्याएँ शहर की आम आबादी के मुकाबले बहुत अधिक होती हैं। बुनियादी सुविधाओं (शिक्षा-स्वास्थ्य सुविधाएँ, पेयजल की सुविधा आदि-आदि के अनगिनत मुद्दे होते हैं, जिनपर संगठित होने के अभाव में गाँव की आम आबादी लड़ नहीं पाती। इन अगणित मुद्दों को गिनाना न यहाँ संभव है, न ही जरूरी। इन तमाम मुद्दों पर, एक कम्युनिस्ट संगठनकर्ता गाँव के मजदूरों से लेकर छोटे-मँझोले मिल्कियों तक के रोजमर्रे के संघर्ष संगठित करता है, उनकी वर्गीय एकजुटता को मजबूत बनाता है और स्वयं उनके साथ गहरे विश्वास का रिश्ता बनाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रक्रिया में एक कुशल कम्युनिस्ट संगठनकर्ता सुधार के बहुतेरे काम भी हाथ में लेता है। वह मज़दूर और ग़रीब-मध्यम किसान घरों के नौजवानों को साथ लेकर युवा संगठन बनाता है, खेलकूद-पुस्तकालय-वाचनालय-सांस्कृतिक टोली आदि संगठित करता है और इस प्रक्रिया में जनता के विभिन्न वर्गों की वर्गीय एकजुटता के आधार को परोक्ष रूप से पुख्ता बनाने के साथ ही युवाओं के बीच से सीधे क्रान्तिकारी भर्ती के काम को भी आगे बढ़ाता है (और इस बात पर भी विशेष ध्यान देता है कि इन्हीं गरीब युवाओं के बीच से एक बड़ा हिस्सा रोजी-रोटी के लिए गाँव छोड़ने के बाद, शहरी सर्वहाराओं की जमात में शामिल होता रहता है)।

इतनी पृष्ठभूमि स्पष्ट करने के बाद हम अपने मूल प्रश्न पर वापस लौट सकते हैं। आखिकार वे कौन सी ठोस माँगें होंगी, जिनपर गाँव के छोटे-मँझोले मालिक किसानों को संगठित किया जायेगा? उन्हें बड़े मालिक किसानों से अलग करके मेहनतकशों के पक्ष में खड़ा करने के लिए, समाजवादी प्रचार एवं शिक्षा के अतिरिक्त, आन्दोलन के ठोस मुद्दे क्या होंगे?

सबसे पहले, इस बात पर स्पष्ट हो लेना जरूरी है कि भूमि-सम्बन्धों में पूँजीवादी बदलाव के बाद (चाहे वह जिस रास्ते से भी हो और जिस रूप में भी हो), गाँव की आम आबादी और शहर की आम आबादी की बुनियादी माँगों के बीच, ग्रामीण मध्यवर्ग और शहरी मध्यवर्ग की बुनियादी माँगों के बीच, तथा ग्रामीण और शहरी मज़दूरों की बुनियादी माँगों के बीच, काफ़ी हद तक की एकरूपता आ जाती है और व्यापक आबादी के व्यापक आन्दोलनों के लिए ज्यादा अनुकूल वस्तुगत आधार तैयार हो जाता है। साथ ही, गाँव की आम जनता का शोषण-उत्पीड़न शहरों के मुकाबले और अधिक बढ़ जाता है और उसके राजनीतिक अधिकारों (नागरिक एवं जनवादी अधिकारों) का अपहरण एवं दमन भी ज्यादा बड़े पैमाने पर होता है, जिन्हें मुद्दा बनाकर आन्दोलन संगठित करना कम्युनिस्ट संगठनकर्ताओं की एक अहम ज़िम्मेदारी होती है।

1. कम्युनिस्ट संगठनकर्ता गाँव के छोटे और मँझोले किसानों को इस माँग पर लामबन्द करता है कि सभी किस्म के परोक्ष करों को पूरी तरह से मंसूख कर दिया जाना चाहिए। बहुत कम आम लोग इस सच्चाई से परिचित हैं कि कारखानेदारों, व्यापारियों और चल-अचल संपत्ति वाले धनी लोगों से आयकर, संपत्तिकर, गृहकर, व्यापार कर, उत्पादन कर आदि के रूप में जो प्रत्यक्ष कर लगते हैं, उन्हें, तथा टोल टैक्स, चुंगी, आबकारी तथा आयात-निर्यात पर लगने वाले प्रत्यक्ष करों को मिलाकर, सरकारी खजाने में जो धन आता है, उससे कई गुना अधिक रकम सरकार उपभोग के सामानों पर कर लगाकर आम लोगों से वसूल लेती है। नागरिक जो भी सामान खरीदते हैं उनकी कीमत में ये सरकारी कर शामिल होते हैं। लुटेरों के लूटतंत्र को सुरक्षित रखने के लिए जो राज्य सत्ता कायम हैं, उसका खर्च भी मुख्यत: वही उठाते हैं जिन्हें लूटा और निचोड़ा जाता है। इसलिए सभी परोक्ष करों की मंसूखी एक ऐसी माँग है जो शहर और गाँव की मजदूर आबादी के साथ शहरी मध्य वर्ग और गाँव के छोटे-मँझोले किसानों एवं अन्य ग्रामीण मध्यवर्गीय तबकों को जोड़ने का काम करती है।

2. उपरोक्त माँग के साथ ही गाँव के छोटे-मँझोले किसानों को कृषि पर तथा डेरी-पोल्ट्री-फिशरी व तमाम कृषि आधारित उद्यमों पर भी आयकर लगाने की माँग अवश्य ही करनी चाहिये और इसकी ज़द में उन सभी बड़े किसानों को शामिल करने की मांग उठानी चाहिए जो मुनाफे के लिए पैदा करते हैं, तथा उन सभी ग्रामीण उद्योगों को शामिल करने की माँग उठानी चाहिए, जो मजदूरों से काम कराते हैं। उन्हें इन सभी धनिक ग्रामीण वर्गों पर सम्पत्तिकर भी लगाने की माँग करनी चाहिए। उन्हें उन सभी तिकड़मों के विरुद्ध आवाज उठानी चाहिए, जिनका सहारा लेकर, सरकार और नौकरशाही की मिलीभगत से, धनिक वर्ग कर अदा करने से बच निकलते हैं।

3. ग़रीब और मँझोले किसानों की माँग यह होनी चाहिए कि ज़मीन सहित उत्पादन के साधनों के स्वामित्व की एक सुनिश्चित मात्रा को पैमाना बनाकर, धनी किसानों ओर अन्य ग्रामीण पूँजीपतियों से बिजली ओर पानी की कीमत वसूली जानी चाहिए, जबकि उन सभी किसानों को, जो मुनाफ़े के लिए नहीं पैदा करते, सापेक्षत: रियायती दर पर बिजली-पानी आदि मिलनी चाहिए। साथ ही, उन्हें यह माँग करनी चाहिए कि घरों में उपयोग के लिए गाँव की ग़रीब आबादी को नि:शुल्क और मध्यम तबके को अत्यधिक रियायती दरों पर बिजली मिलनी चाहिए, जबकि मुनाफाखोर तबकों से उसकी वही कीमत वसूली जानी चाहिए, जो शहरी उपभोक्ताओं से वसूली जाती है। शहरों में भी यह एक महत्वपूर्ण माँग बनती है कि आम मध्यवर्गीय नौकरीपेशा लोगों को नि:शुल्क बिजली-पानी मिलना चाहिए, जबकि (आय और बिजली के खर्च को पैमाना बनाकर) धनी तबकों से ऊँची दरों पर इसकी कीमत ली जानी चाहिए, तथा कारखानों और व्यापारिक प्रतिष्ठानों से इतनी ऊँची दरों पर बिजली की कीमत ली जानी चाहिए कि बिजली पैदा करने का मुख्य खर्च उसी से निकले (आज इसके ठीक उल्टा होता है, उद्योगपतियों को अत्यन्त सस्ती दरों पर बिजली दी जाती है और उसकी भी कीमत अदा करने के बजाय वे अरबों रुपये डकार जाते हैं)। गाँव के छोटे-मँझोले किसानों को पूरे देश की जनता की इस आम माँग के इर्दगिर्द संगठित किया जाना चाहिये कि जनता को बिजली-पानी जैसी बुनियादी सुविधाएँ नि:शुल्क उपलब्ध कराना सरकार की ज़िम्मेदारी है और इसे उसको हर कीमत पर निभाना चाहिए।

4. गाँव के छोटे और मँझोले किसानों को इस माँग पर ग़रीब मेहनतकशों के साथ एकजुट किया जाना चाहिए कि आम आबादी घर बनाने-मरम्मत कराने, हारी-बीमारी जैसे घरेलू संकटों-जरूरतों के लिए बैंक से जो कर्ज़ ले, उसपर ब्याज की दर एकदम कम होनी चाहिए और सबसे ग़रीब आबादी को ब्याज-मुक्त कर्ज मिलना चाहिए, जबकि उत्पादन के साधनों की खरीद के लिए धनी किसानों द्वारा लिये जाने वाले कर्जों पर ब्याजदर अधिक होनी चाहिए।

5. गाँव के छोटे और मँझोले किसानों की एकता सर्वहारा आबादी से क़ायम करने के लिए कम्युनिस्टों द्वारा उन्हें इस माँग पर संगठित किया जाना चाहिए कि सार्वजनिक वितरण-प्रणाली द्वारा (आय-वर्ग के सुनिश्चित पैमाने पर धनी-ग़रीब तय करके) रियायती दरों पर (और अकाल के समय में मुफ्त) राशन, चीनी, किरासन तेल आदि बुनियादी ज़रूरत की चीजें ग़रीब और मध्यम तबके को पूरे देश के पैमाने पर उपलब्ध कराना सरकार की ज़िम्मेदारी है। इसे एक बुनियादी अधिकार बनाकर पूँजीवादी राज्यसत्ता के विरुद्ध जन-लामबन्दी की जानी चाहिए, सार्वजनिक वितरण-प्रणाली को तोड़ने की मौजूदा सरकारी साजिशों को जनता के बुनियादी हक़ छीने जाने का मुद्दा बनाकर, संघर्ष के माध्यम से किसानों को भी व्यापक ग़रीब आबादी के साथ एकजुट किया जाना चाहिए।

6. सभी बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा की माँग समूची जनता की और विशेष तौर पर ग़रीबों की एक ऐसी माँग है जिसपर छोटे ही

(पेज 4 पर जारी)

छोटे-मँझोले किसान किन माँगों पर लड़ेंगे? ...

(पेज 3 से आगे)

नहीं बल्कि मध्यम किसान भी साथ आ जायेंगे क्योंकि शिक्षा के ज्यादा से ज्यादा बढ़ते बाजारीकरण के वर्तमान माहौल में केवल गाँवों के धनी लोगों के बच्चों को ही बेहतर शिक्षा के अवसर मिल पाते हैं । मुफ्त शिक्षा के साथ ही कम्युनिस्टों का अनिवार्य दायित्व है कि वे शिक्षा के समान अवसर की माँग पर सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी के साथ ही गाँवों-शहरों के मध्यवर्ग और मँझोले किसानों को भी संगठित करें क्योंकि यह जनता का बुनियादी राजनीतिक अधिकार है जिसे पूँजीवादी जनवादी गणतंत्र भी सिद्धान्त रूप में स्वीकार करता है, पर व्यवहार में कभी लागू नहीं करता। यह मसला पूँजीवादी जनवाद की असलियत उजागर करने का एक अहम मुद्दा होना चाहिए जिसे सिर्फ क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन के एजेण्डा पर ही रखकर सन्तोष करने के बजाय व्यापक आम आबादी के आन्दोलन का मुद्दा बनाया जाना चाहिए।

7. यही बात समान शिक्षा के साथ ही सबको रोजगार के नारे के साथ भी लागू होती है। वास्तव में इस माँग को कभी भी, छात्र-युवा आन्दोलन के अतिरिक्त, जनता के विभिन्न वर्गीय आन्दोलनों की एक बुनियादी माँग के रूप में रखते हुए आन्दोलन की लम्बी तैयारी, और बुर्जुआ जनवाद के 'एक्सपोज़र' का काम किया ही नहीं गया है। महज औपचारिकता के रूप में इस माँग की चर्चा बार-बार की जाती रही है और इसे एक घिसा हुआ सिक्का बना दिया गया है। यह एक ऐसी ज्वलंत माँग है जो छोटे-मँझोले मालिक किसानों को व्यापक ग़रीब आबादी के साथ एकजुट करने के साथ ही हमें यह अवसर देती है कि हम लोगों को यह ज़रूरी शिक्षा दे सकें कि किस प्रकार सामाजिक जीवन में रोज़गार की कमी कभी नहीं हो सकती, किस प्रकार बेरोज़गारी पूँजीवादी मुनाफाखोरी की व्यवस्था का एक अपरिहार्य परिणाम है। इस मसले पर जनता को शिक्षित करते हुए हमें आरक्षण की सरकारी तिकड़म, और प्रतिक्रियावादी अवस्थितिं से किये जाने वाले उसके विरोध के बारे में बताने का अवसर मिलता है और तभी हम लोगों को यह भी बता सकते हैं कि आज इतने रोज़गार पैदा हो नहीं हो रहे हैं कि आरक्षण का आम आबादी के किसी हिस्से को लाभ मिल सके या किसी हिस्से को नुकसान हो सके। अत: सबसे ज़रूरी है कि जनता 'समान शिक्षा, सबको रोज़गार की माँग पर एकजुट होकर लड़े। इस लम्बी लड़ाई की प्रक्रिया के दौरान आरज़ी या तात्कालिक तौर पर बेरोज़गारी भत्ता की माँग भी उठाई जानी चाहिए। ध्यान रहे कि सबको रोज़गार के हक़ की लड़ाई एक ऐसी लड़ाई है जो बुर्जुआ जनवाद के दांगलेपन और पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली की असलियत उजागर करने के साथ ही हमें यह अवसर भी देती है कि हम जनता के बीच के जातिगत बँटवारों और आरक्षण की आज की सच्चाई को जनता के सामने सही ढंग से स्पष्ट करें, जनता को बाँटने की साज़िशों को बेनक़ाब कर सकें और वर्गीय एकजुटता को ठोस रूप में आगे बढ़ा सकें। इसी प्रक्रिया में कम्युनिस्टों को समाजवाद के इस प्रोग्राम को भी स्पष्ट करने का सबसे सही अवसर मिलता है कि समाजवादी व्यवस्था (और केवल वही) किस प्रकार सभी काम करने योग्य नागरिकों को काम देती है और किस प्रकार उनकी सभी ज़रूरतों को पूरा करने की स्थिति पैदा करती है।

8. निःशुल्क चिकित्सा की सार्विक सुविधा भी जनता की ऐसी ही एक बुनियादी राजनीतिक माँग है, जिसका अभाव प्रकारान्तर से जनता के जीने के अधिकार पर ही हमला है। इस मसले पर भी बुर्जुआ जनवाद की दोमुँही असलियत को उजागर करते हुए तथा चिकित्सा-व्यवस्था को निजी हाथों में सौंपकर पूरी तरह से खरीद-फरोख्त की वस्तु बना देने, दवा-कम्पनियों की बेशुमार लूट और धोखाधड़ी तथा सार्वजनिक चिकित्सा-व्यवस्था को ध्वस्त करने के वर्तमान सिलसिले के खिलाफ व्यापक आबादी को संघर्ष के लिए तैयार करते हुए, सर्वहारा वर्ग की एक सही-सच्ची पार्टी गाँव के छोटे-मँझोले किसानों को भी समाजवाद की लड़ाई में शामिल करने में तथा समाजवाद के खिलाफ उनके पूर्वाग्रहों को तोड़ने में क्रमश: ज्यादा से ज्यादा कामयाबी हासिल करेगी।

9. सबको शिक्षा, रोजगार और दवा-इलाज की सुविधा की ही तरह सभी के लिए आवास को भी जनता के एक बुनियादी राजनीतिक अधिकार के रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रचार और लामबन्दी का काम किया जाना चाहिए। इस माँग का मध्यम किसान कम से कम विरोध नहीं करेंगे और छोटे किसानों की भारी आबादी इस मुद्दे पर गाँवों-शहरों की सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी का साथ देगी।

10. हमें देश की बुर्जुआ जनवादी व्यवस्था में संसदीय चुनावों, संसद-विधान सभा की कार्रवाइयों, सरकार और एम0पी0-एम0एल0ए0 के वेतन-भत्तों, नौकरशाही के विराट तंत्र और सेना-पुलिस पर सालाना होने वाले विशाल खर्चों की असलियत व्यापक आम जनता के सामने बार-बार लानी चाहिए, यह भी दिखलाना चाहिए कि इन सबके मुकाबले, जनता से ही वसूले गये धन का कितना छोटा हिस्सा शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सबसे बुनियादी ज़रूरतों पर खर्च होता है। हमें यह माँग उठानी होगी कि खर्चीले चुनावों की प्रणाली समाप्त की जाये, कथित जन प्रतिनिधियों और मंत्रियों की विलासिता, शानो-शौकत और तमाम विशेषाधिकारों को तत्काल समाप्त किया जाये, नौकरशाही के भी बेहिसाब वेतन-भत्तों में कटौती की जाए, उसके सभी विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया जाये और पूरे नौकरशाही तंत्र को काट-छाँट कर एकदम छोटा, कम से कम आज का दसवाँ हिस्सा कर दिया जाये। हमें यह माँग उठानी होगी कि नौकरशाही के ज्यादातर ज़रूरी कामों को जनता की चुनी गई समितियों के सुपुर्द कर दिया जाये ओर फालतू की लाल फीताशाही को खत्म करके दफ्तरी कामों को आसान बना दिया जाये। यही आम पहुँच कोर्ट-कचहरी के विराट परजीवी तंत्र पर भी लागू होनी चाहिए। हमें पुरजोर शब्दों में यह माँग करनी चाहिए कि स्थायी सेना के विराट ढाँचे को विघटित कर देना चाहिए और उसकी जगह आम नागरिकों को सैन्य-प्रशिक्षण देना चाहिए। यह एक ज़रूरी माँग है क्योंकि जनता से निचोड़ी गयी सरकारी रकम का एक बड़ा हिस्सा उस सेना पर खर्च होता है ओर देशभक्ति के नाम अंधराष्ट्रवादी भावनाएं उभाड़कर इस सच्चाई पर पर्दा डाल दिया जाता है कि इस सेना का मुख्य उद्देश्य शासक वर्गों की हिफाजत करना और उसके खिलाफ उठ खड़ी होने वाली जनता का दमन करना होता है। हमें यह भी माँग करनी चाहिए कि प्रतिरक्षा की ज़रूरत के नाम पर गुप्तता की उस व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाना चाहिए जिसकी आड़ में हर वर्ष रक्षा-सौदों के घोटालों में जनता से वसूले गये धन में से अरबों-खरबों रुपये नेता-नौकरशाह और दलाल हड़प कर जाते हैं। हमें यह माँग उठानी चाहिए कि क़ानून-व्यवस्था की आड़ में जनता पर ही जुल्म ढाने वाली पुलिस-व्यवस्था को भी भंग कर देना चाहिए और यह काम नागरिकों की चुनी हुई कमेटियों और उसके प्रशिक्षित दस्तों को सौंप देना चाहिए जो अपने रोजी-रोजगार के साथ-साथ इस काम को, पारी बाँधकर अंजाम देंगे और इस तरह से होने वाली अरबों की बचत को विकास-कार्यों में लगाया जा सकेगा। समाजवाद की लड़ाई के लिए जनता को तैयार करने के लिए ये माँगें बेहद ज़रूरी हैं। एक ताकतवर, व्यापक आधार वाली पार्टी ही इन मांगों पर आन्दोलन खड़ा कर सकती है, पर इन माँगों पर समुचित तथ्यों और तर्कों से जनता को शिक्षित करने का काम एकदम शुरू से ही चलना चहिए और आम प्रचार की कार्रवाइयों से लेकर गाँव-गाँव, बस्ती-बस्ती की बैठकों-सभाओं तक में चलना चाहिए तथा लगातार अखबारों-पर्चों के जरिए भी चलना चाहिए। जनता को यह बताया जाना चाहिए कि सिर्फ सरकार, विधायिका, नौकरशाही और सेना-पुलिस के फालतू खर्चों और विशेषाधिकारों में ही कटौती कर दी जाये तो जनता की सभी बुनियादी ज़रूरतें आराम से पूरी की जा सकती हैं तथा विकास के तमाम कामों को नई रफ्तार दी जा सकती है। इन माँगों के लिए लड़ते हुए जनता व्यवहार में पूँजीवादी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के जनविरोधी चरित्र की भंयकरता की ओर समाजवादी व्यवस्था की अनिवार्य ज़रूरत की क्रमश: गहरी समझ हासिल करती चलती है। ये ऐसी माँगें हैं, जिन पर गाँवों के छोटे-मँझोले किसान और शहर के परेशानहाल मध्यवर्गीय तबके मेहनतकशों के साथ आ खड़े होंगे और उनके बीच समाजवाद के लिए संघर्ष की स्वीकार्यता ज्यादा से ज्यादा स्थापित होती चली जायेगी।

11. छोटे और मँझोले किसानों के बीच कम्युनिस्ट 'प्रोपेगैण्डा' और 'एजिटेशन' का एक अहम मसला यह भी होना चाहिए कि वे गाँवों में इस तरह की किसान समितियाँ संगठित करें जिनमें धनी किसान, महाजन और ग्रामीण पूँजीपतियों जैसा कोई भी मुनाफ़ाख़ोर तबका न हो। ये समितियाँ व्यापक आम आबादी के हितों की रक्षा करेंगी, उनसे जुड़ी माँगों को उठायेंगी तथा छोटे-मँझोले मालिक किसानों को यह अवसर मुहैया करायेंगी कि वे धनी किसानों की दबंगई से आज़ाद रहकर अपने हितों की रक्षा कर सकें और अपने हक़ की लड़ाई लड़ सकें। कम्युनिस्ट पार्टी की भरपूर कोशिश यह रहती है कि धनी होने की मृग मारीचिका से बाहर निकलकर छोटे ओर मँझोले किसान ज्यादा से ज्यादा मुद्दों पर गाँव (और शहरों के भी) के गरीबों के साथ खड़े हों। इसके लिए उन्हें यथार्थवादी ढंग से, ऐसे ही व्यापक मुद्दों पर व्यावहारिक ढंग से लड़ाई के लिए संगठित होने की प्रेरणा लगातार देने की ज़रूरत होती है। इसमें यह भी बात ध्यान रखने की होती है कि छोटे-मँझोले देहाती मिल्की वर्गों के जो उन्नत (और प्राय: युवा) तत्व पूँजीवादी व्यवस्था में छोटे मालिकाने के हश्र को समझकर, सर्वहारा वर्ग की विचारधारा को और फिर उसकी क्रान्ति पार्टी की मातहती को स्वीकार करते हैं, उनकी, पूरे वर्ग को जन पक्ष में ला खड़ा करने में एक अहम भूमिका होगी।

12. छोटे और मँझोले किसानों को ग्राम पंचायतों और ब्लाक समितियों आदि के स्तरों पर कुलकों-फार्मरों के वर्चस्व को तथा स्थानीय नौकरशाही के साथ गठबंधन के सहारे चलने वाली उनकी दादागिरी को खतम करने के लिए ग्रामीण मज़दूरों के साथ एकताबद्ध करने का प्रयास लगातार करना चाहिए, पंचायतों के तहत होने वाले विकास-कार्यों की जन-निगरानी संगठित की जानी चाहिए, पंचायत चुनावों में धन के ज़ोर के खिलाफ तथा पंचायत समितियों के जनवादी ढंग से काम करने के सवाल पर व्यापक ग़रीब आबादी के साथ मध्यम किसानों को ला खड़ा करने की हरचन्द कोशिश की जानी चाहिए। कहने की ज़रूरत नहीं कि ज़मीनी स्तर पर सुधारपरक, शिक्षापरक और प्रचारपरक कार्रवाई के एक लम्बे सिलसिले के बाद ही लोगों की वर्ग चेतना उन्नत करने की बुनियादी समस्याओं को हल किया जा सकेगा, जिनमें से सर्वप्रमुख वह जातिगत बँटवारा है, जो एक हद तक वर्गीय अर्न्तवस्तु को भी प्रकट करता है, लेकिन आज मुख्यत: वर्गीय ध्रुवीकरण और वर्ग-चेतना के उन्नतिकरण को बाधित करने का काम कर रहा है। यह प्रश्न अलग से प्रचार, शिक्षा, सांस्कृतिक कार्य और आन्दोलन की एक सुसंगत नीति पर विचार करने की माँग करता है। यहाँ यह न संभव है, न ज़रूरी। व्यापक ग़रीब आबादी के साथ मँझोले मालिक किसानों की एक हद तक की जुझारू एकजुटता स्थापित हो जाने के बाद, यह प्रयास किया जाना चाहिए कि पंचायतों पर कुलक-नौकरशाही गँठजोड़ के वर्चस्व को तोड़ने के लिए, पंचायत चुनावों में भी ग्रामीण सर्वहारा आबादी और छोटे-मँझोले किसान एकजुट हस्तक्षेप करें और इन संस्थाओं को गाँवों में वर्ग-संघर्ष का एक प्लेटफार्म बना देने की कोशिश करें।

13. लेकिन एक सुसंगत कम्युनिस्ट नीति सिर्फ इतने से ही तसल्ली नहीं कर सकती। सरकारी ग्राम पंचायतों (ग्राम-सभाओं) से अलग, गाँवों में ग्रास रूट स्तर पर ऐसे जन-प्लेटफार्म संगठित करने की लगातार कोशिश एक लम्बे सिलसिले के रूप में जारी रहनी चाहिए, जिसपर ग्रामीण शोषक वर्गों की कोई भागीदारी न हो और जहाँ व्यापक आम जनता की आबादी की जुटान अपनी साझा माँगों समस्याओं पर जनवादी ढंग से विचार करे, फैसला ले और आन्दोलन का कार्यक्रम बनाये। इसी बोध के तहत 'बिगुल' ने विभिन्न क्रान्तिकारी जन संगठनों के साथ मिलकर गाँवों और शहर की मज़दूर बस्तियों में **'क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य पंचायत'** की अवधारणा प्रस्तुत की है, जिसके बारे में 'बिगुल' में पहले लिखा जा चुका है। यह जनता की उस वैकल्पिक सत्ता का ग्रास रूट स्तर पर भ्रूण विकसित करने की एक कोशिश है (ऐसे अन्य प्रयोग भी हो सकते है), जो समाजवादी क्रान्ति के विकास की उन्नत अवस्था में, सामाजिक-राजनीतिक संकट के उथल-पुथल के दौर में देश स्तर पर एक दोहरी सत्ता की मौजूदगी जैसी स्थिति में रूपान्तरित हो सकती है। यह मुद्दा भारतीय क्रान्ति के मार्ग पर चर्चा से जुड़ा है जो अलग से विस्तार की मांग करता है। वर्तमान चर्चा के प्रसंग में, फिलहाल इतना ही उल्लेख काफ़ी है।

14. छोटे-मँझोले मालिक किसानों के बीच छोटे पैमाने के पूँजीवादी उत्पादन से (और प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के अतीत से भी) पैदा हुई कूपमण्डूकता के कारण धार्मिक पूर्वाग्रहों, अन्धविश्वासों की भी मजबूत मौजूदगी होती है। आज भारत में धार्मिक कट्टरपंथी फासीवाद का जो व्यापक उभार हुआ है, उसका एक व्यापक सामाजिक आधार गाँवों के पूँजीवादी भूस्वामियों-कुलकों-फार्मरों में भी विकसित हुआ है। धार्मिक पूर्वाग्रहों, भावनाओं को बढ़ावा देकर (तथा जातिगत ध्रुवीकरण की मदद से भी), गाँवों के साम्प्रदायिक फासीवाद-समर्थक धनी वर्ग, मँझोले और छोटे मालिक किसानों को भी अपने साथ खड़ा कर लेते हैं। इससे एक ओर गांवों में जनता की एकजुटता का आधार टूट रहा है और दूसरी ओर साम्प्रदायिक फासीवाद को ताकत मिल रही है। कम्युनिस्ट यदि उपरोक्त आर्थिक और राजनीतिक मसलों पर छोटे-मँझोले किसानों को जागृत, गोलबन्द और संगठित करने की ज़मीनी कार्रवाई कर रहे हों तो उन्हें धर्म की राजनीति के विरुद्ध जमकर तथा हर संभव तरीके से प्रचार करना चाहिए, इसके असली उद्देश्य एवं चरित्र का भण्डाफोड़ करना चाहिए, बुर्जुआ राजनीति व सँविधान की धर्मनिरपेक्षता के नकलीपन को उजागर करना चाहिए, मज़दूर राजनीति की सच्ची धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप स्पष्ट करना चाहिए तथा पुरजोर शब्दों में यह माँग रखनी चाहिए कि :

(i) धर्म को और धार्मिक संस्थाओं को राजनीतिक-सामाजिक जीवन तथा सार्वजनिक शिक्षा-संस्कृति के दायरे से एकदम अलग कर दिया जाना चाहिए।

(ii) हर नागरिक को निजी धार्मिक (या अधार्मिक) विश्वास की पूरी आज़ादी होनी चाहिए तथा इसमें राज्य का या किसी अन्य संस्था का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, न ही किसी भी नागरिक को दूसरे के ऊपर, या आबादी के एक हिस्से को दूसरे के ऊपर, अपने धार्मिक विश्वास को थोपने की इजाज़त दी जानी चाहिए। यह काम आज साम्प्रदायिक फासीवाद के विरुद्ध तैयारी की फौरी ज़रूरत है और गाँवों में समाजवादी क्रान्ति के वर्ग-संश्रय को क़ायम करने और मजबूत बनाने के लिए भी ज़रूरी है। हमें गाँव के ग़रीबों से लेकर मध्यम किसानों तक के बीच लगातार प्रचार करके यह माँग उठाने के लिए उन्हें अवश्य ही तैयार करना

(पेज 5 पर जारी)

छोटे-मँझोले किसान किन माँगों पर लड़ेंगे? ...

(पेज 4 से आगे)

चाहिए कि मठों-मन्दिरों-गुरुद्वारों में जमा अरबों रूपये, सोना-चाँदी और हज़ारों एकड़ ज़मीन जब्त करके सार्वजनिक हित के कार्यों में लगा दिया जाना चाहिए। साधु-सन्तों-महन्तों को पूजा-पाठ का पूरा अधिकार होना चाहिए, लेकिन अकूत सम्पत्ति की जमाखोरी का अधिकार उन्हें कतई नहीं होना चाहिए। कम्युनिस्टों को न केवल धार्मिक रूढ़ियों, अन्धविश्वास, धर्म के राजनीतिक इस्तेमाल और धार्मिक कट्टरपंथ के विरूद्ध लगातार प्रचार और शिक्षा का काम चलाना चाहिए, बल्कि उन्हें बुनियादी राजनीतिक एवं आर्थिक प्रश्नों पर जनता को गोलबन्द और संगठित करने के साथ-साथ, धर्म के प्रश्न पर कम्युनिस्ट विचारों का लगातार प्रचार करना चाहिए तथा लेनिन की शिक्षा का अनुसरण करते हुए, इस भ्रान्ति का कतई शिकार नहीं होना चाहिए कि इससे जनता बिदक जायेगी। हम अपने धर्म-विषयक विचारों को जनता पर लादते नहीं हैं और इसे समाजवाद के लिए संघर्ष की शर्त नहीं बनाते हैं, लेकिन अपने विचारों को छिपाते भी नहीं हैं। इससे समाजवाद के लिए संघर्ष को नुकसान ही पहुँचता है। जनता हमेशा इतनी व्यवहारिक होती है कि इस बात को समझती है। समाजवाद के लिए संघर्ष की अपरिहार्य आवश्यकता उसकी अपनी ज़रूरत है, यह बात जनता वस्तुगत परिस्थितियों से समझती है और हम उसे लगातार यह अहसास भी कराते हैं।

ऊपर की चर्चा में सभी मुद्दे शामिल नहीं हैं, पर हमने केन्द्रीय मुद्दों को, और उससे भी अधिक, छोटे और मँझोले किसानों को मज़दूर आन्दोलन के साथ जोड़ने के प्रति कम्युनिस्ट पहुँच को, स्पष्ट करने की कोशिश की है। इन्हीं ठोस माँगों पर कम्युनिस्ट गाँवों में मँझोले और छोटे मालिक किसानों को संगठित करने की कोशिश करते हैं, पर यह याद रखना बेहद ज़रूरी है कि हर हमेशा हमारा ज़ोर उनके सामने यह स्पष्ट करने पर होता है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत उनका कोई भविष्य नहीं है, कि छोटे मालिकाने, छोटी पूँजी और छोटे पैमाने के पूँजीवादी उत्पादन की तबाही सुनिश्चित है और इसलिए छोटे-मँझोले मालिकों के सामने एकमात्र व्यावहारिक विकल्प यही है कि वे समाजवाद के पक्ष में आ खड़े हों। एक सच्चा कम्युनिस्ट गाँव के इन मिल्की वर्गों को लगातार समाजवाद के बारे में शिक्षित करता है, ज़मीन के निजी मालिकाने के प्रति उनके हवाई और रूढ़िवादी मोह के खिलाफ संघर्ष करता है और उन्हें यह समझाने की कोशिश करता है कि समाजवाद उनसे उनके मिथ्या भ्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लेता है और बदले में उन्हें समूची आज़ादी और हज़ार गुना बेहतर ज़िन्दगी की गारण्टी देता है।

साथ ही, कम्युनिस्ट दृष्टिकोण हमें छोटे मालिक किसानों और मध्यम मालिक किसानों के बीच फ़र्क करने की भी शिक्षा देता है। लगातार, तेजी के साथ, उजड़ते छोटे किसानों को कम्युनिस्टों की बात अपनी ज़िन्दगी के हालात से जल्दी समझ में आ जाती है, जबकि मँझोले किसान लम्बे समय तक बीच में झूलते रहते हैं। वे अन्ततोगत्वा समाजवादी क्रान्ति के ढुलमुल दोस्त ही होते हैं। उनका छोटा-सा ऊपरी हिस्सा धनी बनने की ओर उन्मुख होता है, बीच का एक हिस्सा दोनों ओर ताकता रहता है और नीचे का हिस्सा गाँव के गरीबों का पक्ष लेता है।

कम्युनिस्ट वस्तुगत परिस्थितियों की आन्तरिक गति को देखते हुए भविष्य के मद्देनज़र काम करते हैं और नारे देते हैं। भारतीय समाज के तीव्र पूँजीवादीकरण की वर्तमान दिशा को देखते हुए, यह स्पष्ट है कि एक दशक के भीतर ही गाँवों में वर्गीय ध्रुवीकरण की तस्वीर बहुत अधिक स्पष्ट हो जायेगी, छोटे मालिकों का बड़ा हिस्सा तबाह होकर गाँवों-शहरों की सर्वहारा जमातों में शामिल हो जायेगा ओर मध्यम किसानों की आबादी भी सिकुड़कर काफी छोटी हो जायेगी।

वैसे आज की ही स्थिति यह है कि गाँवों और शहरों की सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी कुल आबादी के पचास प्रतिशत के आसपास पहुँच रही है। कम्युनिस्ट इसी आबादी का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही समाजवादी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति है, जो अब तेजी से (आबादी की दृष्टि से) मुख्य शक्ति भी बनती जा रही है। शहरी निम्न मध्य वर्ग की भारी, परेशानहाल आबादी इसकी मुख्य सहयोगी बनेगी क्योंकि इसे अपना कोई भविष्य नहीं दीख रहा है और निजी भू-स्वामित्व के मोह जैसी बाधा से भी यह मुक्त है। गाँवों के छोटे किसान सर्वहारा वर्ग के दूसरे करीबी दोस्त हैं। मध्यम किसान इसके ढुलमुल दोस्त हैं और आबादी की दृष्टि से भी इसकी कोई वजह नहीं दीखती कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को छोड़कर इस ढुलमुल दोस्त की चिन्ता में ही दुबले हुए जा रहे हैं। यह नरोदवादी भटकाव नहीं तो भला और क्या है?

(पेज एक से आगे)

साम्प्रदायिक फासीवाद से आरपार की लड़ाई के बारे में सोचना होगा

हैं कि भूतपूर्व जनता दल के विभिन्न घटकों, सपा और अन्य क्षेत्रीय दलों तथा कांग्रेस को साथ लेकर किस प्रकार चुनावों में भाजपा को शिकस्त दी जाये। फासीवाद और वर्ग संघर्ष के बारे में बोसवीं शताब्दी के इतिहास की सारी नसीहतों को भुलाकर वे संसद की चौहद्दी में ही पटखनी देकर, फासीवाद की नरसंहारी लहर पर काबू पा लेने की खामख्याली में जी रहे हैं, या फिर ज्यादा से ज्यादा, कुछ अनुष्ठानिक विरोध-प्रदर्शनों की खानापूरी कर रहे हैं। दरअसल, खामख्याली से भी ज्यादा यह उनके चरित्र और औकात की बात है। उनके सारे उद्यम लम्बे समय से चुनावी राजनीति की चौहद्दी में ही सिमटे रहे हैं। मज़दूर वर्ग की आर्थिक माँगों पर दबाव और मोलतोल के संघर्षों के अतिरिक्त पिछली आधी सदी से वे राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक संघर्ष के मसलों को दरकिनार किये हुए हैं। मज़दूर वर्ग को क्रान्तिकारी वर्ग संघर्ष और राज्यसत्ता पर कब्जा के लिए तैयार करने का लक्ष्य छोड़ चुके संशोधनवादी आज चाहें भी तो मज़दूरों को साम्प्रदायिक फासीवाद के विरूद्ध लड़ने के लिए सड़कों पर नहीं उतार सकते। और भला वे ऐसा चाहें भी क्यों? वे यह इच्छाशक्ति ही खो चुके हैं। इसलिए वे सारी ताकत संसद के दायरे में ही आजमा रहे हैं और कल्पना की दुनिया में जी रहे हैं।

हिन्दुत्ववादी फासिस्ट ताकतें आज जितने मुखर रूप में अपनी नीयत और मकसद का खुलासा कर रही हैं और बुर्जुआ जनवाद के संसदीय अलमबरदारों और चुनावी वामपंथी चौकीदारों की जो दयनीय स्थिति है, उससे मिलने वाले भविष्य के दिशा-संकेत एकदम साफ हैं। मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति की वाहक और पक्षधर शक्तियों को इन दिशा-संकेतों को समझना होगा तथा प्रतिरक्षा और प्रतिरोध की कारगर रणनीति तैयार करनी होगी। ऐसा न करना आत्मघाती होगा। सिर्फ संघपरिवार की साम्प्रदायिक फासीवाद राजनीति के वर्तमान चेहरे को ही नहीं, भारतीय पूँजीवाद के असाध्य संकटों को भी देखते हुए यह पक्के तौर पर कहा जा सकता है कि भारत में फासीवाद का यह उभार कोई अल्पजीवी परिघटना या दौर विशेष की प्रवृत्ति मात्र नहीं है। भारतीय जनता पार्टी चाहे शासन में रहे या न रहे, साम्प्रदायिक फासीवाद की समाज और राजनीति में तकलीफदेह उपस्थिति बनी रहेगी। इसका वास्तविक प्रतिकार केवल व्यापक मेहनतकश जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष के एजेण्डे का ही हिस्सा हो सकता है। जन मुक्ति की किसी भी परियोजना पर सोचते हुए हमें साम्प्रदायिक फासीवाद से आर-पार की लड़ाई के बारे में सोचना ही होगा। आज की प्रतिकूलतम स्थितियों में भी, हमें कुछ फौरी कार्यभारों के बारे में सोचना होगा, और साथ ही, दीर्घकालिक तैयारियों में भी तत्काल जुट जाना होगा। पहले ही काफ़ी देर हो चुकी है और उसकी कीमत भी चुकानी पड़ रही है और आगे भी चुकानी पड़ेगी। लेकिन सम्हलने और नयी शुरूआत करने के लिए कभी भी बहुत देर नहीं हुई रहती है।

हमारी आँखें में चुभते हुए, जलते हुए सवाल ये हैं कि क्या भारत के सभी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुप और संगठन, कम से कम इस एक सवाल पर एकजुट होकर, प्रतिरोध की कोई रणनीति अपनाकर काम कर सकते हैं? आखिर इस दिशा में अब तक कोई सार्थक या प्रभावी पहल क्यों नही की जा सकी है? क्यों साम्प्रदायिक फासीवाद के विरुद्ध एकजुट होने और व्यापक आम आबादी को संगठित करने की बातें मात्र थोथा सिद्धान्त-निरूपण बनकर रह गयी हैं? समाज की मध्यवर्गीय सेक्युलर ताकतों और संशोधनवादी वामपंथी पार्टियों को फासीवाद-विरोध की सही रणनीति के साथ लेने की हमारी कोशिशें क्या होनी चाहिए और होनी भी चाहिए या नहीं? ज़मीनी स्तर पर क्रान्तिकारी ग्रुपों को जनता की फासीवाद-विरोधी तैयारी के लिए कौन-से कदम उठाने चाहिये?

आगामी अंक में हम इन सभी मसलों पर अपने विचार विनम्रता पूर्वक अपने सभी बिरादरों-हमसफरों के सामने रखना चाहेंगे और पुरजोर शब्दों में यह अपील करना चाहेंगे कि हालात चाहे जितने भी कठिन हों और हमारे बीच क्रान्ति की मंज़िल, रास्ते आदि को लेकर मतभेद चाहे जितने भी गहरे हों, साम्प्रदायिक फासीवाद के विरुद्ध जनसंघर्ष की तैयारी का एक ठोस, साझा कार्यक्रम हमें अवश्य ही तैयार करना चाहिए। और हम ऐसा कर सकते हैं, ज़रूर कर सकते हैं।

(क्रमशः)

(अगले अंक में : साम्प्रदायिक फासीवाद के विरूद्ध क्रान्तिकारी शक्तियों की एकता के बारे में, जन लामबन्दी के बारे में, मध्यवर्ती ताकतों को साथ लेने के बारे में और ठोस, ज़मीनी कार्रवाइयों के बारे में)

दूसरे श्रम आयोग की रिपोर्ट पर कानूनी दस्तावेज़ अब बजट सत्र में

मज़दूरों पर एक और बड़े हमले की तैयारी पूरी

बिगुल संवाददाता

दूसरे श्रम आयोग की मज़दूर विरोधी घातक सिफारिशें पेश होने के बाद से सरकार ने इसे कानूनी रूप देने की कवायदें तेज कर दी हैं। देशभर में मजदूरों के विरोधी तेवर से सहमी सरकार इसे संसद के शीतकालीन सत्र में पेश नहीं कर सकी। लेकिन उसे बजट सत्र में हर कीमत पर पेश करने की फिराक में है। मौजूदा श्रम कानूनों को बदलने के लिए सरकार कितनी बेताब है इसका सबूत दो वर्ष पहले ही मिल गया था। तमाम पुरानी परम्पराओं को मुंह चिढ़ाते हुए उस समय के वित्तमंत्री ने आम बजट के साथ ही श्रमकानूनों में "सुधार" की पेशकश कर दी थी। श्रम आयोग अब उसी को दस्तावेजी रूप दे चुका है।

छंटनी की खुली छूट और काम के घंटे ज्यादा

अपनी 1752 पेजी रिपोर्ट में देशी-विदेशी मुनाफाखोरों की चाहत पूरी करते हुए श्रम आयोग लिखता है कि "किसी संगठन में कामकाज की घटिया संस्कृति का एक कारण जरूरत से ज्यादा श्रमिकों का होना भी है" (5.19)। इसलिए वह "फालतू" श्रमशक्ति की छंटनी की वकालत करता है। श्रम आयोग का मानना है कि "प्रतियोगिता के दौर में हर राष्ट्र को इतनी प्रतियोगी काबिलियत हासिल करनी होगी कि वह दुनिया के बाजारों में टिक और फल-फूल सके। नियोक्ताओं और कर्मचारियों के लिए आज पहली जरूरत है कि वे एक दूसरे को साझीदार मानने की सोच विकसित करें। कामकाज की वह नई संस्कृति विकसित हो जो नई तकनीक और भूमण्डलीकरण के संदर्भ की मांग है।" (5.3)

श्रम आयोग सरकारी कर्मचारियों को "कामचोर" मानता है। रिपोर्ट में लिखा है कि "हमारे यहां बेशुमार छुट्टियां होती हैं।"(5.24) इसलिए वह सिफारिश करता है कि "साल में तीन राजपत्रित छुट्टियां (स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस और गांधी जयन्ती) के अलावा हर राज्य यदि चाहे तो अपने वहां की परम्परा के अनुरूप दो छुट्टियां और दे सकती है। इसके अलावा हर कर्मचारी को 10 प्रतिबंधित छुट्टियां लेने की इजाजत हो। पांच दिन के कामकाजी सप्ताह वाले संस्थान में यदि कार्य दिवस में कोई छुट्टी पड़े तो अगला शनिवार कार्यदिवस हो।"

श्रम आयोग कहता है कि रोजाना काम के घंटे नौ से ज्यादा नहीं होना चाहिए। (यानी काम के घंटे बढ़ाओ)। हालांकि वह लिखता है कि सप्ताह में "कुल घंटे 48 से ज्यादा नहीं होने चाहिए। इन हदों के भीतर लचीला रुख अपनाया जा सकता है। नौ घंटों से ज्यादा काम (ओवर टाइम) के लिए भुगतान की व्यवस्था हो सकती है।" (5.32)

"जब चाहे काम पर रखें और जब चाहें निकाल बाहर करें।" (हायर एण्ड फायर) और मियादी अनुबंध आधारित रोजगार पर बड़े ही घुमावदार तरीके से बातें करते हुए आयोग लिखता है कि "हमारा यकीन है कि ये फायदे (श्रम शक्ति को मामूली सी सुरक्षा से होने वाले ढेरों आर्थिक फायदे) और सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने की जरूरत की मांग है कि अनुबंधी रोजगार व्यवस्था की शुरुआत हो और इससे प्रभावित होने वाले तमाम श्रमिकों के लिए असरकारी सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के बीच एक ऐसा जुड़ाव कायम किया जाये जो सामाजिक रूप से स्वीकार्य हो" (5.38)। क्योंकि आयोग को यह आशंका है कि "जब चाहें काम पर रखने और जब चाहे निकाल बाहर करने के बेलगाम अधिकार और अनुबंधी नौकरियों की व्यवस्था तत्काल शुरू करने की मांग से बड़े भारी सवाल जुड़े हैं" (5.36)। आयोग लिखता है कि "अगर समुचित मुआवजा और सुरक्षा व्यवस्था सुनिश्चित नहीं की गई तो भूख और बदहाली गंभीर और विस्फोटक सामाजिक असंतोष को जन्म दे सकते हैं" (5.40)।

आयोग "औद्योगिक विवाद" की जगह "औद्योगिक संबंध" को वकालत करता है। वह सभी प्रकार के कानूनों की जगह चार-पांच बुनियादी कानून बनाने, श्रम न्यायालय या ट्रिब्यूनल की जगह "श्रम संबंधों का आयोग" के गठन और कोर्टफीस वसूलने की पेशकश करता है। रिपोर्ट के अनुसार "नया परिदृश्य जिस नयी सोच की मांग करता है व औद्योगिक संबंधों या नियोक्ता-कर्मचारी संबंधों में तमाम प्रवृत्तियों और गतिविधियों में दिखनी चाहिए, इसलिए परस्पर हितों और दुनियाभर में स्वीकृत मौलिक अधिकारों और परम्पराओं पर आधारित द्विपक्षीय बातचीत को बढ़ावा देने की पूरी कोशिश की जानी चाहिए। कानूनी व्यवस्था को भी ऐसा ही करना चाहिए। कानून ऐसा होना चाहिए कि मतभेद बने रहने की हालत में विरोधी विचारों को मध्यस्थता या पंच फैसले के जरिए सुलझा लिया जाये। वैसे विवादों में अनिवार्य रूप से पंचाट के फैसलों को लागू करने की व्यवस्था होनी चाहिए" (5.40)।

आयोग कम्पनियों को कुछ अगर-मगर के साथ छंटनी व बंदी का खुला अधिकार देता है। उसके अनुसार "कम्पनी की आर्थिक कार्यक्षमता के लिए क्या उचित है-क्या नहीं यह फैसला करने का अधिकार प्रबंधन को है और यह अधिकार इस समीक्षा (बंदी के लिए फैसले की समीक्षा किसी तीसरे पक्ष या अदालत द्वारा करने की व्यवस्था) के दायरे से बाहर होगा" (6.86)। रिपोर्ट में लिखा है कि "आयोग इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि बेहतरीन, ज्यादा ईमानदार और समतावादी रास्ता यह होगा कि बंदी की इजाजत दे दी जाए और कामगारों को पर्याप्त मुआवजा दिया जाए। यदि इसके खिलाफ कोई अपील होती है तो इसके निपटारे के रास्ते मध्यस्थता या पंचाट के जरिये ढूंढ़े जाएं" (6.87)।

रिपोर्ट के अनुसार "अस्थायी तौर पर काम से हटाने और छंटनी के पहले इजाजत लेना जरूरी नहीं है, चाहे संबंधित प्रतिष्ठान कितना ही बड़ा क्यों न हो। लेकिन कामगार को दो महीने पूर्व इसकी सूचना दिये जाने या छंटनी के वक्त दो महीने का वेतन सूचना वेतन के रूप में दिये जाने के हकदार होंगे। छंटनी-मुआवजे की दर किसी चल रहे संस्थान में ज्यादा होनी चाहिए और बंद किये जा रहे संस्थान में कम" (6.88)। बंदी के लिए सरकारी इजाजत की खानापूर्ति 300 से अधिक श्रम शक्ति वाले प्रतिष्ठान में औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के अध्याय 5 बी के प्रावधानों के अनुरूप रखने का प्रस्ताव तो आयोग देता है लेकिन इस शर्त के साथ कि 90 दिन पूर्व अनुमति के लिए दिये गये पत्र जिसकी प्रतिलिपि वार्ताकार यूनियन को भी देनी होगी पर यदि 60 दिनों के भीतर जवाब नहीं आता है तो इसे इजाजत मान लिया जायेगा (6.91)। यदि यह खानापूर्ति नहीं होती है तो 60 दिनों का वेतन देकर भी प्रबंधन छुटकारा पा सकता है।

बंदी या छंटनी के मुआवजे के संदर्भ में आयोग का प्रस्ताव है कि तीन साल से वित्तीय घाटा उठा रहे संस्थानों को नौकरी के हर साल के लिए 30 दिनों का वेतन, यदि किसी बीमार उद्योग को चलाने लायक

(शेष पेज 10 पर)

लुधियाना के मज़दूर तथा मज़दूर आन्दोलन

लुधियाना का ट्रेड यूनियन आन्दोलन

• सुखदेव

(पिछले अंक से आगे)

लुधियाना में किसी ताकतवर ट्रेड यूनियन आन्दोलन का कोई इतिहास नहीं रहा हैं। वैसे छिटपुट आन्दोलन होते रहते हैं। कुछ एक ही ऐसे आन्दोलन हैं जो आज भी मजदूरों की स्मृतियों में अंकित है, जिनको आज भी किसी न किसी बहाने चर्चा होती रहती है। एक है 1982 का वर्धमान स्पिनिंग मिल के मज़दूरों का संघर्ष। इस आन्दोलन की अगुंवाई भारतीय जनता पार्टी के मज़दूर विंग भारतीय मज़दूर संघ ने की थी। इस आन्दोलन में मज़दूर तो पूरी बहादुरी से लड़े पर गलत नेतृत्व के चलते मजदूरों को कोई सफलता नहीं मिल पाई थी। इसमें कुछ मजदूर मारे गए और कइयों को जेलों में सड़ना पड़ा। इस आन्दोलन में मज़दूरों के हाथों कुछ स्टाफ के लोग भी मारे गए थे। मजदूरों की तमाम कुर्बानियों के बावजूद नेतृत्व की गद्दारी की वजह से मजदूरों के हाथ निराशा ही लगी थी।

दूसरा बड़ा आन्दोलन, 1993 का टेक्सटाइल-होजरी मज़दूरों का आन्दोलन था। इस आन्दोलन की अगुवाई संसदमार्गी मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के मजदूर विंग 'सीटू' ने की थी। लगभग 40 दिन तक यहाँ की सैकड़ों होजरियों तथा टेक्सटाइल मिलों में जबरदस्त हड़ताल रही। हजारों मज़दूर इस आन्दोलन में कूद पड़े थे। मगर मज़दूरों के हाथ फिर निराशा ही लगी। क्योंकि इस बार भी इस आन्दोलन की अगुवाई चुनावी राजनीति करने वाली पार्टी के दुमछल्ले ट्रेड यूनियन के हाथ में थी। नेतृत्व ने मज़दूरों से गद्दारी की। बिना मज़दूरों की कोई माँग मनवाए आन्दोलन वापस ले लिया गया। इसके बाद मालिकों ने गिन-गिन कर मजदूरों से बदला लिया। आन्दोलन के समय यहां सैकड़ों फैक्ट्रियों में यूनियन के झण्डे लहरा रहे थे। अब मालिकों ने सब उतरवा दिये। नेतृत्व करने वाले मजदूरों को काम से हाथ धोने पड़े। मज़दूरों से नेताओं के इस विश्वासघात ने लुधियाना के मज़दूर आन्दोलन की ऐसी कमर तोड़ी कि आज तक यहां दोबारा मजदूर आन्दोलन नहीं उठ पाया है।

इन आन्दोलनों के अलावा भी यहां छिटपुट आन्दोलन होते रहे हैं। कुछ में मज़दूर जीते तो कुछ में हारे। कुल मिलाकर देखा जाए तो यहां का मज़दूर आन्दोलन पीछे ही हटा है। मालिकों का हाथ आज काफी ऊपर है। लुधियाना में शायद ही आज कोई ऐसी फैक्ट्री होगी जहां पर मजदूरों की यूनियन हो। यहाँ के मालिकों के जोर-जुल्म ने मज़दूरों से संगठित होने का अधिकार ही छीन लिया है। भारत के हुक्मरान जिन नए श्रम कानूनों को लाने की कोशिश में है, इन कानूनों का यहाँ पर कोई असर नहीं पड़ने वाला क्योंकि यहाँ तो श्रम बाजार पहले ही बहुत लचीला है। 'हायर एण्ड फायर' यहाँ पर बहुत साल पहले से ही लागू है।

वैसे यहाँ पर मुख्यधारा के सभी ट्रेड यूनियन मौजूद हैं जैसे एच0एम0एस0, इंटक, एटक, बी0एम0एस0, सीटू आदि। मगर मजदूरों में किसी का भी कोई खास प्रभाव दिखाई नहीं देता। फैक्ट्रियों में तो यहाँ यूनियनें रही ही नहीं है। इसलिए इन ट्रेड यूनियनों का 'कार्यक्षेत्र' कारखानों के बाहर ही है। आज ये ट्रेड यूनियन यहाँ पर शुद्ध रूप से दुकानों में बदल चुके हैं। मजदूरों के अधिकारों के लिये ये कभी कोई आन्दोलन नहीं छेड़ते और न ही मज़दूरों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करने के लिए मज़दूर बस्तियों-बेहड़ों में कोई प्रचार-प्रसार ही करते हैं। आज इनका एकमात्र जो काम रह गया है वह है लेबर कोर्ट में मज़दूरों के केस लड़ना और मालिकों तथा मजदूरों दोनों से कमीशन खाना। लुधियाना में कोई प्रभावी ट्रेड यूनियन आन्दोलन न होने से अक्सर ही मालिक मज़दूरों से काम करवा के पैसे नहीं देते, जिसके लिये मजदूरों को ट्रेड यूनियन दुकानें खोलकर बैठे इन दलालों की शरण में जाना पड़ता है। इस तरह से इन दलालों का धन्धा यहाँ पर अच्छा-खासा चलता रहता है।

ट्रेड यूनियनवाद, सुधारवाद, अर्थवाद की इसकी धारा, जिसकी कमाण्ड बड़ी चुनावी राजनीतिक पार्टियों के हाथ में रही है और आज भी है। इसके अलावा यहाँ पर एक और धारा रही है जिसे हम जुझारू अर्थवाद की धारा कह सकते हैं। 70 के दशक के अन्त में यहाँ पर गठित हुई ''मोल्डर एंड स्टील वर्कर्स यूनियन'' इस धारा का प्रतिनिधित्व करती है। इस यूनियन के बनने से यहाँ के मजदूरों में आशा की एक नई किरण जागी थी। क्योंकि इसके नेता ईमानदार, कर्मठ और जुझारू थे। इन यूनियन की अगुवाई में यहाँ पर कई छोटे-बड़े संघर्ष हुए, जिससे मजदूरों को काफी राहत भी मिली। मगर इस धारा की अपनी ही समस्याएं थी। यह यूनियन एक के बाद एक फूट का शिकार होते हुए आज लगभग यहाँ पर निष्प्रभावी हो चुकी है। पहली फूट तो इसको 1982 में ही झेलनी पड़ी, जब इसके एक अच्छे-खासे हिस्से ने इससे अलग होकर 'क्रान्तिकारी मज़दूर केन्द्र' बना लिया था। मगर कुछ साल तक मजदूरों में सक्रिय रहने के बाद 'क्रान्तिकारी मज़दूर केन्द्र' खत्म हो गया। बाकी की बची 'मोल्डर' को 1997 में एक और फूट का सामना करना पड़ा। अब इस नाम पर यहाँ दो यूनियनें काम कर रही हैं। एक तो लगभग खत्म हैं मगर दूसरी का मज़दूरों मे कुछ प्रभाव अभी कायम है। मगर अब इस यूनियन का मुख्य 'कार्यक्षेत्र' भी लेबर कोर्ट ही है। चुनावी पार्टियों से जुड़े दलाल ट्रेड यूनियनों की तरह ये साथी भी कोर्ट में केस लड़ने के लिये मजदूरों से कमीशन लेते हैं। इस संगठन की आमदनी का मुख्य स्रोत भी अब मज़दूरों से जुटाया कमीशन ही है। मज़दूरों से कमीशन लेना एक तरह से ट्रेड यूनियन जनवाद तथा जनदिशा का निषेध है। यह एक तरह से मज़दूर की मजबूरी का फायदा उठाना ही है। इसलिए मजदूर भी ऐसे संगठनों को एक दुकान के रूप में ही लेते है। मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार-प्रसार करना, उन्हें शिक्षित प्रशिक्षित करना, जिससे मज़दूरों का ट्रेड यूनियन मज़दूरों की पाठशाला बन सकें, इस काम को यह संगठन भी अब लगभग तिलांजलि दे चुका है।

(अगले अंक में जारी)

शीलचन्द एग्रो मज़दूर आन्दोलन : मालिकान की अन्धेरगर्दी और शासन-प्रशासन की धोखाधड़ी एवं मिलीभगत

(बिगुल संवाददाता)

लालपुर (ऊधमसिंह नगर), 5 फरवरी। 'हमारा ब्राण्ड' वनस्पति रिफाइण्ड निर्माता व साल्वेंट कम्पनी शीलचन्द एग्रो आयल्स प्रा0 लि0 के प्रबन्धन के उत्पीड़न के खिलाफ वहाँ के मजदूर लगभग दो माह से आन्दोलनरत हैं। शासन-प्रशासन-श्रम विभाग द्वारा सारे सच को मानने के बावजूद मालिक के ऊपर कार्रवाई करने से हाथ खड़े कर दिये जाने से उनकी मालिकपक्षीय पक्षधरता एक बार फिर खुलकर सामने आ गयी है। उधर शीलचन्द के मज़दूर अपने एकताबद्ध संघर्ष को लगातार गति देने का प्रयास कर रहे हैं।

इस कारखाने में न्यूनतम श्रमकानून का भी कोई वजूद नहीं है। 137 नियमित श्रमिकों में से महज 31 का पीएफ कटता है। 8 वर्षों तक से काम करने वाले किसी भी मज़दूर को न तो पहचानपत्र मिलता है, न ही साप्ताहिक या अन्य छुट्टियाँ मिलती हैं और न ही अन्य कोई सुविधाएँ। प्रबन्धन किसी के कर्मकार होने का कोई रिकार्ड भी नहीं रखता है। तेरह-चौदह सौ रुपये के मामूली मासिक वेतन पर मज़दूरों से 12-12 घण्टे हाड़-तोड़ मेहनत करवाया जाता हैं। प्रबन्धन यहाँ जब चाहे काम पर रखो, जब चाहे निकाल बाहर करो, की नीति चलाता है।

लम्बे समय से जुल्म सह रहे यहाँ के मजदूरों ने गुप-चुप तरीके से अपनी एकता बनानी शुरू की। प्रबन्धन को इसकी भनक लग गयी। उसने मज़दूरों को अलग-अलग बुलाकर उन्हें डराने-तोड़ने का असफल प्रयास किया। इसी क्रम में उसने पिछली दीपावली के ऐन पहले 21 मज़दूरों की छुट्टी कर दी। मज़दूर खामोश रहे और अपनी एकता को मजबूत करते रहे। कोई खुली प्रतिक्रिया होते न देख प्रबन्धन ने दिसम्बर में दो वरिष्ठ मजदूरों कश्मीर व महेन्द्र सिंह को निकाल दिया और उसने सबका नवम्बर माह का वेतन रोक दिया। इसके खिलाफ मज़दूर जब प्रबन्धन से बात करने गये तो उन्हें धमकियों का सामना करना पड़ा। इससे गुस्साये मज़दूरों ने 11 दिसम्बर से कारखाने के भीतर रहते हुए अपने आन्दोलन की शुरूआत कर दी। प्रबन्धन के तेवर और तीखे होते गये। उसने कोर्ट से कारखाना परिक्षेत्र से तीन सौ मीटर दायरे में धरना-प्रदर्शन पर रोक का स्थगनादेश प्राप्त कर लिया और पुलिस-पीएसी के दम पर मज़दूरों को कारखाने से बाहर धकेल दिया। यही नहीं, उसने कारखाने के आवासीय परिसर में रहने वाले मज़दूरों के कमरे के ताले पुलिस की मौजूदगी में तुड़वाकर, उनके सामान सड़क पर फिंकवा दिये। जब क्षेत्र की तमाम यूनियनों व जनसंगठनों ने इसका विरोध किया तो जिला व पुलिस प्रशासन ने सामान सहित उन्हें कमरों में पुनः व्यवस्थित करवाने का आश्वासन दिया। इसके बाद, सामान तो प्रबन्धन के पास 'सुरक्षित' रखवा दिया गया, लेकिन मज़दूर बेघर-बेसामान अभी भी सड़क की खाक छान रहे हैं। इधर थाने में प्राथमिकी दर्ज कराने गये दो श्रमिक प्रतिनिधियों को जेल की हवा खानी पड़ी।

इस बीच, क्षेत्र के तमाम संगठनों-यूनियनों ने मिलकर 'शीलचन्द एग्रो मज़दूर संघर्ष समिति' का गठन करके आन्दोलन को गति प्रदान की। जिससे बाध्य होकर प्रशासन व श्रम विभाग ने त्रिपक्षीय वार्ताओं की खानापूर्ति शुरू कर दी जबकि प्रबन्धन महज 31 मज़दूरों को अपना कर्मकार बताते हुए उन्हें लेने की बात करता रहा। लेकिन आन्दोलन की तीव्रता के दबाव में 6 जनवरी को एक लिखित समझौते के तहत प्रबन्धन ने मज़दूरों द्वारा प्रस्तुत सूची पर ही नवम्बर माह के वेतन का भुगतान कर दिया। यहाँ प्रबन्धन फंस गया, क्योंकि मज़दूरों की कारखाने में मान्यता बन गयी। 10 जनवरी को अतिरिक्त जिलाधिकारी की मध्यस्थता वाली वार्ता में इसी सूची के आधार पर कोई निष्कर्ष निकलना था।

लेकिन मालिक ने एक नई चाल चली। उसने पहले 8 जनवरी को अपने सभी सुरक्षाकर्मियों को बदल दिया। 9-10 जनवरी की आधी रात को लगभग साढ़े तीन बजे उसने कारखाने के एक प्लांट में आग लगवा दी। अग्निकाण्ड से ठीक पूर्व कारखाने से एक सुरक्षाकर्मी ने धरनारत मज़दूरों के टेण्ट में आकर उन्हें कारखाने में आग बुझाने के लिए चलने को कहा, लेकिन समझदारी का परिचय देते हुए बिना लिखित आदेश के मज़दूरों ने उस रात कारखाने में जाने से मना कर दिया। प्रबन्धन इस साजिश में मज़दूरों को फंसा तो नहीं सका लेकिन 10 जनवरी की वार्ता हटवाने में सफल रहा। अब वह बीमा रकम व राज्य के लिए केन्द्र से घोषित नयी पैकेज के तहत सब्सिडी हड़पने के फिराक में हैं।

इधर, मज़दूरों का आन्दोलन तेज होता गया तो जिलाधिकारी ने बड़े ही नाटकीय ढंग से हस्तक्षेप करते हुए 20 जनवरी को पहली बार मालिक को

(पेज 9 पर जारी)

होण्डा के मज़दूर नेता की बहाली का मुद्दा

मौके की नजाकत को समझो और संघर्ष के लिए आगे आओ!

(बिगुल संवाददाता)

रुद्रपुर (ऊधमसिंहनगर) 5 फरवरी। पोर्टेबल जनरेटर निर्माता होण्डा पावर प्रोडक्टस लि0 के चार माह से बर्खास्त श्रमिक नेता बी0सी0 पाण्डे की सेवा बहाली का मुद्दा एक बार फिर जोर पकड़ने लगा है। बी0सी0 पाण्डे व उनकी पत्नी ने विगत 23 जनवरी को प्रबन्धन को 15 दिन का अल्टीमेटम दे दिया है। उधर 'श्री राम होण्डा श्रमिक संगठन' ने भी प्रबन्धन को चेतावनी दे दी है कि यदि उसने इस मुद्दे को हल करने में अब और ज्यादा देर की तो श्रमिक आन्दोलन तेज हो जायेगा।

उल्लेखनीय है कि होण्डा प्रबन्धन कारखाने को यहाँ से शिफ्ट करने की खतरनाक योजना पर काम कर रहा है। इसी के तहत उसने मजदूरों के चार माह के लम्बे आन्दोलन के बावजूद पिछले वर्ष जुलाई में कारखाने के महत्वपूर्ण विभाग 'एल्यूमिनियम शाप' की शिफ्टिंग करने मे सफल रहा था। उस वक्त उसने शासन-प्रशासन-न्यायालय व संगठन को छंटनी व कारखाना शिफ्ट न करने का लिखित आश्वासन भी दिया था। लेकिन चन्द माह बाद ही उसने एक सुनियोजित षड्यंत्र के तहत 27 सितम्बर को पाण्डे की सेवा समाप्त कर दी। इसके खिलाफ 18 अक्टूबर से मज़दूरों ने सामूहिक रूप से 6 दिनों तक 'भूखे रहकर काम करने का' आन्दोलन भी चलाया। उस वक्त प्रबन्धन अपने अड़ियलपन पर कायम रहते हुए 23 अक्टूबर को कारखाने में अवैध तालाबन्दी करके फरार हो गया था। बाद में प्रबन्धन के इस आश्वासन पर कि शान्तिपूर्ण वार्ता के जरिये वह पाण्डे की सेवा बहाली, त्रिवर्षीय वेतन समझौता सहित तमाम विवादित बिन्दुओं को हल करेगी, मज़दूरों ने शान्ति व्यवस्था कायम रखी।

इस बीच पाण्डे व संगठन ने केन्द्रीय श्रम मंत्री से लेकर प्रदेश के मुख्यमंत्री, श्रममंत्री तक कई पत्र भेजे, उधर त्रिपक्षीय व द्विपक्षीय वार्ताओं की खानापूर्ति होती रही, लेकिन कुल मिलाकर रहा वही 'ढाक के तीन पात'।

एक तो आज का मज़दूर-विरोधी कठिन दौर, ऊपर से होण्डा मज़दूरों के एक तबका भीतर लड़ने से किनाराकशी की वर्तमान मानसिकता से प्रबन्धन के हौसले बुलन्द हैं। वैसे भी जापानी होण्डा मालिकान अपने मज़दूर विरोधी जालिमाना हरकतों के लिए कुख्यात रहे हैं। यहाँ के मजदूर जब तक अपने जुझारू एकताबद्ध संघर्ष के लिए कृत संकल्प रहे, तब तक वे लड़कर अपने लिए तमाम सहूलियतें भी हासिल करते रहे। लेकिन इन्हीं बढ़ी हुई सहूलियतों ने उनके भीतर से, एक ऐसा तबका पैदा किया है जो अब बिना लड़े, पाने की उल्टी सोच पाले हुए हैं। प्रबंधन भी मौके की नजाकत का फायदा उठाते हुए मज़दूरों के बीच तफरका पैदा करने और तरह-तरह की अफवाहें फैलाने में जुटा हुआ है। होण्डा के मज़दूरों को प्रबंधन की खतरनाक मंशा और मौके की नजाकत को समझना होगा। अभी तो विकट स्थिति की शुरूआत भर है। यदि वे इस नाजुक मौके पर भी नहीं संभले तो कल को बहुत देर हो चुकी होगी।

विशेष सामग्री

(तेइसवीं किस्त)

पार्टी की बुनियादी समझदारी

अध्याय -8

पार्टी अनुशासन

एक क्रांतिकारी पार्टी के बिना मज़दूर वर्ग क्रांति को कतई अंजाम नहीं दे सकता। लेनिन ने इस बात को बार-बार जोर देकर कहा था। स्तालिन और माओ ने भी बराबर इस बात पर जोर दिया और बीसवीं सदी की सभी सफल सर्वहारा क्रान्तियों ने भी इसे सत्यापित किया।

लेनिन ने सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के सांगठनिक उसूलों का निर्धारण किया और इसी फौलादी सांचे में बोल्शेविक पार्टी को ढाला। चीन की पार्टी भी बोल्शेविक पार्टी की ही उत्तराधिकारी थी। सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष का संचालन करते हुए माओ के नेतृत्व में चीन की पार्टी ने अन्य युगान्तरकारी सैद्धान्तिक उपलब्धियों के साथ-साथ लेनिनवादी सांगठनिक सिद्धान्तों को भी और आगे विकसित किया।

सोवियत संघ और चीन में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के लिए बुर्जुआ तत्वों ने सबसे पहले यही जरूरी समझा कि सर्वहारा वर्ग की पार्टी का चरित्र बदल दिया जाये। हमारे देश में भी संसदीय रास्ते की अनुगामी नामधारी कम्युनिस्ट पार्टियां मौजूद हैं। भारतीय मज़दूर क्रांति को सफल बनाने के लिए भारत में भी सर्वहारा वर्ग की एक सच्ची क्रान्तिकारी पार्टी खड़ी करने का काम सर्वोपरि है।

इसके लिए बेहद जरूरी है कि मजदूर वर्ग यह जाने कि असली और नकली कम्युनिस्ट पार्टी में क्या फर्क होता है और एक क्रान्तिकारी पार्टी कैसे खड़ी की जानी चाहिए।

इसी उद्देश्य से, फरवरी, 2001 अंक से हमने एक बेहद जरूरी किताब 'पार्टी की बुनियादी समझदारी' के अध्यायों का किस्तों में प्रकाशन शुरू किया है। इस अंक में तेइसवीं किस्त दी जा रही है। यह किताब सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान पार्टी-कतारों और युवा पीढ़ी को शिक्षित करने के लिए तैयार की गयी श्रृंखला की एक कड़ी थी। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की दसवीं कांग्रेस (1973) में पार्टी के गतिशील क्रान्तिकारी चरित्र को बनाये रखने के प्रश्न पर अहम सैद्धान्तिक चर्चा हुई थी, पार्टी का नया संविधान पारित किया गया था और संविधान पर एक महत्वपूर्ण रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी थी। इसी नई रोशनी में यह पुस्तक एक सम्पादकमण्डल द्वारा तैयार की गयी थी। मार्च, 1974 में पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, शंघाई से इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की 4,74,000 प्रतियां छपीं। यह पुस्तक पहले चीनी भाषा से फ्रांसीसी भाषा में अनूदित हुई और 1976 में प्रकाशित हुई। फिर नार्मन बेथ्यून इंस्टीच्यूट, टोरण्टो (कनाडा) ने इसका फ्रांसीसी से अंग्रेजी में अनुवाद कराया और 1976 में ही इसे प्रकाशित भी कर दिया। प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद मूल पुस्तक के इसी अंग्रेजी संस्करण से किया गया है।

- सम्पादक

(पिछले अंक से आगे)

पार्टी अनुशासन का सचेतन रूप से आदर करो

अध्यक्ष माओ हमें यह शिक्षा देते हैं कि कम्युनिस्टों को **"पार्टी अनुशासन को सम्मान देने में मॉडल होना चाहिए"** पार्टी अनुशासन को सम्मान देने के लिए, हमें अनिवार्यत: पार्टी सॉविधान को स्वीकार करना होगा जो यह माँग करता है कि व्यक्ति संगठन के मातहत होता है, अल्पमत बहुमत के मातहत होता है, निचला स्तर ऊपर के स्तर के मातहत होता है, और समूची पार्टी केन्द्रीय कमेटी के मातहत होती है।

व्यक्ति संगठन के मातहत होता है: इसका मतलब यह है कि पार्टी के सदस्यों को अटल और अनिवार्य रूप से पार्टी संगठनों के प्रस्तावों एवं निर्देशों को स्वीकार करना चहिए, और उन्हें लागू करना चाहिए, और किसी भी बहाने से उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। परन्तु, पार्टी के फैसलों और निर्देशों से जो पार्टी सदस्य सहमत नहीं होते हैं उन्हें अपनी राय सुरक्षित रखने का अधिकार होता है, साथ ही उन्हें बीच के स्तरों को फलांग कर अपने विचार सीधे केन्द्रीय कमेटी और इसके अध्यक्ष को रिपोर्ट करने का भी अधिकार होता है।

अल्पमत को अनिवार्यत: बहुमत के अधीन होना चाहिए: इसका अर्थ यह होता है कि पार्टी संगठनों द्वारा जारी प्रस्तावों को पार्टी सदस्यों द्वारा दृढ़तापूर्वक लागू किया जाना अनिवार्य होता है। जब किसी अल्पमत का विचार अस्वीकार कर दिया जाता है, तब जो अल्पमत में होते हैं उनके द्वारा, बहुमत द्वारा लिये गये निर्णय को समर्थन देना अनिवार्य होता है। जहाँ जरूरी हो, यह सम्भव होता है कि भावी बैठक में विचार-विमर्श के लिए उक्त प्रश्न को फिर से एजेण्डा पर रखने के लिए कहा जाये, लेकिन किसी भी सूरत में इस बात की इजाज़त नहीं है कि कोई अपने विरोध को कार्रवाई में प्रदर्शित करे।

निम्नतर स्तर उच्चतर स्तर के मातहत होता है: इसका मतलब होता है कि निचले स्तरों के पार्टी संगठन अपने से ऊपरी स्तरों के संगठनों द्वारा तय किये गये निर्णयों, निर्देशों और कार्यभारों का अनिवार्य रूप से दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं, और उनके अमल को सुनिश्चित करते हैं। पार्टी के किसी एक हिस्से के हित साधन के लिए समूची पार्टी के हितों के विरुद्ध जाने की उन्हें इजाज़त नहीं होती, न ही उन्हें इस बात की इजाज़त होती है कि ऊपर के स्तरों के फैसलों को स्वीकारने से इनकार करके, या उनका विरोध करके, वे समूची पार्टी की केन्द्रीकृत एकता को नुकसान पहुँचायें।

समूची पार्टी केन्द्रीय कमेटी के मातहत होती है: यह हमारे पार्टी अनुशासन का सर्वोच्च उसूल है। अध्यक्ष माओ के नेतृत्व वाली पार्टी की केन्द्रीय कमेटी समूची पार्टी, सेना और जनता का नेतृत्वकारी कोर (निकाय) है। अध्यक्ष माओ के निर्देश और केन्द्रीय कमेटी के आह्वान, घनीभूत रूप में, सर्वहारा वर्ग और हमारे देश की समूची आबादी के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और क्रान्ति तथा निर्माण के कामों में जीतें हासिल करने की हमारी आधारभूत गारण्टी हैं। हर समय, हर परिस्थिति में, हमें अध्यक्ष माओ के नेतृत्व वाली केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों के अनुसार ही बोलना और आचरण करना चाहिए, हमें अतिजनवाद को, अतिस्वतंत्रता की स्पिरिट को, और पार्टी-अनुशासन को तोड़ने-फोड़ने वाले व्यवहार के अन्य रूपों को, दृढ़तापूर्वक रोकना चाहिए तथा उनपर काबू पाना चाहिए।

निश्चय ही, पार्टी अनुशासन को सम्मान देने का मतलब आँख मूँदकर इसकी मातहती मानना नहीं होता। हमारी पार्टी में, अध्यक्ष माओ के प्रतिनिधित्व वाली सही लाइन की केन्द्रीय पोज़ीशन है, लेकिन कुछ गलत लाइनें और रूझानें समय-समय पर प्रकट होती रह सकती हैं। यदि किन्हीं इलाकों या किन्हीं सेक्टरों में बहुतेरे लोग इन गलत लाइनों और रूझानों को सही मानते हुए उनका समर्थन करते हैं, तो कम्युनिस्ट पार्टी के एक सदस्य को, आम हित में, उनके विरुद्ध खड़ा होना चाहिए, धारा के विरुद्ध जाने का साहस करना चाहिए तथा अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन और पार्टी अनुशासन की हिफाज़त के लिए संघर्ष करना चाहिए।

पार्टी अनुशासन का सम्मान किया जाये, इसके लिए हमें इस क्षेत्र में पार्टी सदस्यों की चेतना के स्तर को ऊँचा उठाना होगा। सर्वहारा अनुशासन एक सचेतन अनुशासन होता है- यह बुर्जुआ वर्ग के प्रतिक्रियावादी अनुशासन से मूलभूत रूप से भिन्न होता है। बुर्जुआ वर्ग का अनुशासन शोषण और जनता की गुलामी के आधार पर स्थापित होता है, और इसे सिर्फ दमनात्मक कदमों और झूठों के जरिए ही कायम रखा जा सकता है। दूसरी ओर, जैसा कि लेनिन ने स्पष्ट किया है, सर्वहारा अनुशासन पार्टी के सभी सदस्यों की चेतना पर आधारित होता है, यह **"सर्वहारा हरावल की वर्ग चेतना द्वारा और क्रान्ति के प्रति इसके समर्पण द्वारा, इसकी दृढ़-प्रतिज्ञता, आत्मबलिदान और शौर्य के द्वारा"** (*"वामपंथी" कम्युनिज़्म, एक बचकाना मर्ज़*) कायम रखा जाता है, परखा जाता है और मज़बूत बनाया जाता है। पार्टी अनुशासन जहाँ अपरिहार्य प्रकृति का होता है, वहीं इसका अमल सर्वोपरि तौर पर पार्टी सदस्यों की चेतना के उच्च स्तर पर निर्भर करता है। इस चेतना का स्रोत पार्टी और जनता के प्रति सदस्यों के समर्पण में तथा क्रान्तिकारी लक्ष्य के प्रति उनके उच्च दायित्वबोध में होता है।

राजनीतिक चेतना के इस उच्च स्तर के चलते ही, उनके लिए यह सम्भव हो पाता है कि वे क्रान्ति के हितों को पहला स्थान दें, अपने निजी हितों को क्रान्ति के हितों के मातहत रखें और पार्टी के अनुशासन की हिफाज़त के लिए अपनी जान तक दे देने में नहीं डरें। राजनीतिक चेतना के इस उच्च स्तर के चलते ही, उनके लिए यह सम्भव हो पाता है कि चाहे जितनी भी कठिन परिस्थितियाँ हों, वे पार्टी अनुशासन को दृढ़तापूर्वक लागू करें तथा *"न तो कठिनाइयों से डरें और न ही मौत से"* (*माओ त्से-तुङ*)। केवल तभी उनके लिए यह संभव हो पाता है कि जब वे नेतृत्व से अलग रहते हैं और आसपास उनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं होता, तब भी वे खुद पर अत्यधिक दबाव बनाये रखते हैं तथा सचेतन तौर पर पार्टी-अनुशासन का सम्मान करते हैं। पार्टी की गुप्त चीजों की हिफ़ाज़त करते हुए ल्यू हु-लान अडिग रही, अपने ऊपर निर्मम अत्याचार करने वालों के सामने दृढ़ रही, और पार्टी के हितों की हिफाज़त करते हुए उसने खुद को बहादुराना ढंग से दुश्मन के कुल्हाड़े के नीचे कुर्बान कर दिया। जिस जगह पर स्वयंसेवकों की सेना छिपी हुई थी, उस जगह को गुप्त रखते हुए चिऊ शाओ-युन उस समय भी चुप और निश्चल बना रहा जब आग की लपटें उसके शरीर को लील रही थीं। इस तरह उसने बेहद कठिन स्थिति में भी युद्ध क्षेत्र के अनुशासन का सम्मान किया। उसने अपनी जान की कीमत चुकाई और इस तरह युद्ध के कार्यभारों का सफल निष्पादन सुनिश्चित बनाया। कम्युनिस्ट पार्टी के सभी सदस्यों को, इन क्रान्तिकारी शहीदों से प्रेरणा लेते हुए, मार्क्सवादी लेनिनवादी क्लासिक्स और अध्यक्ष माओ की रचनाओं का कर्तव्यनिष्ठा के साथ अध्ययन करना चाहिए, अपनी विचारधारात्मक चेतना के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए संघर्ष करना चाहिए, अपनी सर्वहारा पार्टी स्पिरिट को मज़बूत बनाना चाहिए तथा पार्टी अनुशासन के सचेतन सम्मान के मॉडल के रूप में काम करना चाहिए।

पार्टी अनुशासन का सम्मान हो, इसके लिए हमें दृढ़तापूर्वक उन सभी आचरण-व्यवहारों का विरोध करना होगा जो इसकी जड़ खोदने का काम करती हैं। सभी कम्युनिस्टों को पार्टी की पोज़ीशनों पर मजबूती से टिके रहना चाहिए और निर्भीक होने की पार्टी-स्पिरिट का प्रदर्शन करना चाहिए। उन्हें सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी उसूलों पर डटे रहना चाहिये और पार्टी अनुशासन को नष्ट करने के उद्देश्य वाले उन सभी षड्यंत्रों के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए जो पार्टी में घुस आये बुर्जुआ वर्ग के एजेण्टों द्वारा रचे जाते हैं, और उन्हें उन सभी आचरण-व्यवहारों का विरोध करना चाहिए जो पार्टी अनुशासन के खिलाफ जाते हैं। यह भावना मौजूद है या नहीं, यह हमें एक कम्युनिस्ट की पार्टी स्पिरिट की कमज़ोरी या मज़बूती को जाँचने का पैमाना प्रदान करता है। हमारी पार्टी में ऐसे कामरेड मौजूद हैं जो पार्टी अनुशासन का उल्लंघन करने वाले आचरण-व्यवहारों के प्रति लगातार उदारतावादी रुख अपनाते हैं : **"चीज़ों को चलने देना, यदि वे उन्हें व्यक्तिगत रूप से प्रभावित नहीं करतीं," "यह पूरी तरह जानते हुए भी कि क्या ग़लत है, कम से कम बोलना"** अथवा **"दुनियादार होना और अपने को बचाये रखना और ऐसी कोशिशों में लगे रहना कि खुद पर कोई तोहमत न लगे"**। यह बुर्जुआ वर्ग की नीचतापूर्ण और सड़ी हुई शैली है जो कम्युनिस्टों की क्रान्तिकारी प्रकृति के लिए उतनी ही बेगानी है जितनी आग के लिए पानी। यदि हम उन आचरण-व्यवहारों के विरुद्ध संघर्ष नहीं करते जो पार्टी अनुशासन की जड़ खोदते हैं, यदि हम उनकी भर्त्सना नहीं करते, यदि हम उनके प्रति उदारतावादी रुख अपनाते हैं, तो हम अच्छे-बुरे के बीच फ़र्क कर पाने के काबिल नहीं बन पाने का जोखिम मोल लेते हैं, एक घातक कार्यशैली को फैलने की इजाज़त देते हैं, और इस तरह, पार्टी के हितों को नुकसान पहुँचाते हैं। अध्यक्ष माओ हमें यह शिक्षा देते हैं कि एक कम्युनिस्ट को कैसा व्यवहार करना चाहिए : **"हमेशा और हर जगह उसे उसूलों पर अडिग रहना चाहिए और सभी गलत विचारों और कार्रवाइयों के विरुद्ध अनथक संघर्ष चलाना चाहिए"**...(*'उदारतावाद का विरोध करो'*)। हमें इस क्रान्तिकारी स्पिरिट का प्रदर्शन करना चाहिए और पार्टी अनुशासन की हिफ़ाजत के लिए संघर्ष करना चाहिए।

पार्टी अनुशासन का सम्मान हो, इसके लिए प्रत्येक कम्युनिस्ट को–विशेष तौर पर पार्टी के विभिन्न स्तरों के नेतृत्वकारी कैडरों–को सचेतन रूप से जन समुदाय की आलोचना और नियंत्रण की अधीनता स्वीकार करनी होगी। हमारा राज्य सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का एक समाजवादी राज्य है - मज़दूर वर्ग, ग़रीब और मध्यम किसान तथा व्यापक मेहनतकश जन-समुदाय इसके मालिक हैं, और उन्हें पार्टी और राज्य के विभिन्न स्तरों के कैडरों के ऊपर, क्रान्तिकारी नियंत्रण लागू करने का अधिकार है। फिर भी, ऐसे कैडर कम ही हैं जो, जब पार्टी के भीतर और बाहर का जनसमुदाय अपना अभिमत प्रकट करता है, तो उसका सामना नहीं कर पाते। ऐसे कैडर आलोचना को दबाने, और बदला लेने की कार्रवाइयों में जुट पड़ने की हद तक चले जाते हैं। पार्टी अनुशासन इसकी इजाजत नहीं देता। ऐसी गतिविधियों के विरुद्ध जो पार्टी अनुशासन के प्रतिकूल होती हैं, दृढ़संकल्प संघर्ष छेड़ने के लिए हमें इस प्रश्न को दो लाइनों के संघर्ष के उच्च धरातल से देखना होगा।

(क्रमशः)

तुम्हारे धर्म की क्षय

● राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन सच्चे अर्थों में जनता के लेखक थे। वह आज जैसे कथित प्रगतिशील लेखकों सरीखे नहीं थे जो जनता के जीवन और संघर्षों से अलग-थलग अपने-अपने नेहनौड़ों में बैठे कागज पर रोशनाई फिराया करते हैं। राहुल सांकृत्यायन हमेशा जनता के संघर्षों के बीच रहे। गोरशाही के खिलाफ संघर्ष का मोर्चा हो या सामन्तों-जमींदारों के बर्बर शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ किसानों की लड़ाई का मोर्चा हो, वह हमेशा अगली कतारों में रहे। अनेक बार जेल गये। यातनाएं झेलीं। जमींदारों के गुर्गों ने उनके ऊपर कातिलाना हमला भी किया लेकिन आजादी, बराबरी और इंसानी स्वाभिमान के लिए न तो वह कभी संघर्ष से पीछे हटे और न ही उनकी कलम रुकी। राहुल सांकृत्यायन यूरोपीय पुनर्जागरण काल के उन महामानवों सरीखे महामानव थे जो एक हाथ में कलम और दूसरे हाथ में तलवार लेकर लड़ते थे।

दुनिया की छत्तीस भाषाओं के जानकार राहुल सांकृत्यायन की अद्भुत मेधा का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं, साहित्य की अनेक विधाओं में उनको महारत हासिल थी। इतिहास, दर्शन, पुरातत्व नृतत्वशास्त्र, साहित्य-भाषा विज्ञान आदि विषयों पर वह अधिकारपूर्वक लिखते थे। उन्होंने उपन्यास कहानी, नाटक, ललित निबन्ध, जीवनी, आत्मकथा डायरी आदि साहित्य की लगभग सभी विधाओं में अधिकारपूर्व लेखनी उठायी। वोल्गा से गंगा, भागो नहीं दुनिया को बदलो, दर्शन दिग्दर्शन, मानव समाज, वैज्ञानिक भौतिकवाद, जय यौधेय, सिंह सेनापति, दिमागी गुलामी, तुम्हारी क्षय, साम्यवाद ही क्यों, बाइसवीं सदी आदि पचास से अधिक रचनाएं उनकी महान प्रतिभा का परिचय अपने आप करा देती हैं।

लेकिन राहुल जी के लिए ज्ञान कोई निजी सम्पत्ति नहीं थी और न ही वे विद्वान कहलाने के लिए लिखते थे। देश की शोषित-उत्पीड़ित जनता को हर प्रकार की गुलामी से आजाद कराने के लिए कलम को वह हथियार के रूप में इस्तेमाल करते थे। उनका मानना था कि "साहित्यकार जनता का जबर्दस्त साथी, साथ ही वह उसका अगुआ भी हैं वह सिपाही भी है और सिपहसालार भी।"

राहुल सांकृत्यायन का समूचा जीवन और कर्म एक सतत प्रवहमान धारा के समान था। गति उनके लिए जीवन का दूसरा नाम था और गतिरोध एवं मृत्यु जड़ता। इसीलिए बनी-बनायी लीकों पर चलना उन्हें कभी गवारा नहीं हुआ। वह नयी राहों के खोजी थे। यह अकारण नहीं था। कि घुमक्कड़ी उनके स्वभाव में रच-बस गयी थी। लेकिन घुमक्कड़ी उनके लिए सिर्फ भूगोल की पहचान करना नहीं थी। वह सुदूर देशों की जनता के जीवन व इसकी संस्कृतियों से उसकी जिजीविषा से जान-पहचान करने के लिए यात्राएं करते थे।

समाज को पीछे की ओर धकेलने वाले हर प्रकार के विचार, रुढ़ियों, मूल्यों-मान्यताओं-परम्पराओं के खिलाफ उनका मन गहरी नफ़रत से भरा हुआ था। उनका समूचा जीवन व लेखन इनके खिलाफ विद्रोह का जीता-जागता प्रमाण है। इसीलिए उन्हें महाविद्रोही भी कहा जाता है। जनता के ऐसे ही सच्चे सपूत ***महाविद्रोही राहुल सांकृत्यायन की एक पुस्तिका 'तुम्हारी क्षय' बिगुल के पाठकों के लिए हम धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं।*** *राहुल की यह निराली रचना आज भी हमारे समाज में प्रचलित रुढ़ियों के खिलाफ समझौताहीन संघर्ष की ललकार है।*

- सम्पादक

वैसे तो धर्मों में आपस में मतभेद है। एक पूरब मुँह करके पूजा करने का विधान करता है, तो दूसरा पश्चिम की ओर। एक सिर पर कुछ बाल बढ़ाना चाहता है, तो दूसरा दाढ़ी। एक मूँछ कतरने के लिए कहता है, तो दूसरा मूँछ रखने के लिए। एक जानवर का गला रेतने के लिए कहता है, तो दूसरा एक हाथ से गर्दन साफ करने को। एक कुर्ते का गला दाहिनी तरफ रखता है, तो दूसरा बाईं तरफ। एक जूठ-मीठ का कोई विचार नहीं रखता, तो दूसरे के यहाँ जाति के भीतर भी बहुत-से चूल्हें है। एक खुदा के सिवा दूसरे का नाम भी दुनिया में रहने देना नहीं चाहता, तो दूसरे के देवताओं की संख्या नहीं। एक गाय की रक्षा के लिए जान देने को कहता है, तो दूसरा उसकी कुर्बानी से बड़ा सबाब समझता है।

इसी तरह दुनिया के सभी मजहबों में भारी मतभेद है। ये मतभेद सिर्फ विचारों तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि पिछले दो हजार वर्षों का इतिहास बतला रहा है कि इन मतभेदों के कारण मजहबों ने एक-दूसरे के ऊपर जुल्म के कितने पहाड़ ढाये। यूनान और रोम के अमर कलाकारों की कृतियों का आज अभाव क्यों दीखता है? इसलिए कि वहाँ एक मजहब आया जो ऐसी मूर्तियों के अस्तित्व को अपने लिए खतरे की चीज समझता था। ईरान की जातीय कला, साहित्य और संस्कृति को नामशेष-सा क्यों हो जाना पड़ा?- क्योंकि, उसे एक ऐसे मजहब से पाला पड़ा जो इंसानियत का नाम भी धरती से मिटा देने पर तुला हुआ था। मेक्सिको और पेरू, तुर्किस्तान और अफगानिस्तान, मिस्र और जावा-जहाँ भी देखिये, मजहबों ने अपने को कला, साहित्य, संस्कृति का दुश्मन साबित किया। और खून-खराबी? इसके लिए तो पूछिये मत। अपने-अपने खुदा और भगवान् के नाम पर, अपनी-अपनी किताबों और पाखण्डों के नाम पर मनुष्य के खून को उन्होंने पानी से भी सस्ता कर दिखलाया। यदि पुराने यूनानी धर्म के नाम पर निरपराध ईसाई बच्चे बूढ़ों, स्त्री-पुरूषों को शेरों से फड़वाना, तलवार के घाट उतारना बड़े पुण्य का काम समझते थे, तो पीछे अधिकार हाथ आने पर ईसाई भी क्या उनसे पीछे रहे? ईसामसीह के नाम उन्होंने खुलकर तलवार का इस्तेमाल किया। जर्मनी में इंसानियत के भीतर लोगों को लाने के लिए कत्ले-आम सा मचा दिया गया। पुराने जर्मन ओक वृक्ष की पूजा करते थे। कहीं ऐसा न हो कि ये, ओक उन्हें फिर पथभ्रष्ट कर दें, इसके लिए बस्तियों के आसपास एक भी ओक को रहने न दिया गया। पोप और पेत्रियार्क, इंजील और ईसा के नाम पर प्रतिभाशाली व्यक्तियों के विचार-स्वातंत्र्य को आग और लोहे के जरिये से दबाते रहे। जरा से विचार-भेद के लिए कितनों को चर्खों से दबाया गया– कितनों को जीते जी आग में जलाया गया। हिन्दुस्तान की भूमि ऐसी धार्मिक मतान्धता का कम शिकार नहीं रही है। इस्लाम के आने से पहले भी क्या मजहब ने बोलने और सुनने वालों के मुँह और कानों में पिघले रौंगे और लाख को नहीं भरा? शंकराचार्य ऐसे आदमी–जो कि सारी शक्ति लगा गला फाड़-फाड़ कर यही चिल्ला रहे थे कि सभी ब्रह्म हैं, ब्रह्म से भिन्न सभी चीजें झूठी हैं तथा रामानुज और दूसरों के भी दर्शन जबानी जमा-खर्च से आगे नहीं बढ़े, बल्कि सारी शक्ति लगाकर शूद्रों और दलितों को नीचे दबा रखने में उन्होंने कोई कोर-कसर उठा नहीं रक्खी और इस्लाम के आने के बाद तो हिन्दू-धर्म और इस्लाम के खूँरेज झगड़े आज तक चल रहे हैं। उन्होंने तो हमारे देश को अब तक नरक बना रखा है। कहने के लिए इस्लाम शक्ति और विश्व-बन्धुत्व का धर्म कहलाता है, हिन्दू-धर्म ब्रह्मज्ञान और सहिष्णुता का धर्म बतलाया जाता है, किन्तु क्या इन दोनों धर्मों ने अपने इस दावे को कार्यरूप में परिणत करके दिखलाया? हिन्दू–मुसलमानों पर दोष लगाते है कि ये बेगुनाहों का खून करते है, हमारे मन्दिरों और पवित्र तीर्थों को भ्रष्ट करते है, हमारी स्त्रियों को भगा ले जाते हैं। लेकिन, झगड़े में क्या हिन्दू बेगुनाहों का खून करने से बाज आते हैं। चाहे आप कानपुर के हिन्दू–मुस्लिम झगड़े को ले लीजिए या बनारस के, इलाहाबाद या आगरे के-सब जगह देखेंगे कि हिन्दुओं और मुसलमानों के छुरे और लाठी के शिकार हुए हैं–निरपराध, अजनबी स्त्री-पुरुष, बूढ़े-बच्चे। गाँव या दूसरे मुहल्ले का कोई अभागा आदमी अनजाने उस रास्ते आ गुजरा और कोई पीछे से छुरा भोंक कर चम्पत हो गया। सभी धर्म दया का दावा करते है, लेकिन हिन्दुस्तान के इस धार्मिक झगड़ों को देखिए, तो आपको मालूम होगा कि यहाँ मनुष्यता पनाह माँग रही है। निहत्थे बूढ़े और बूढ़ियाँ ही नहीं, छोटे-छोटे बच्चे तक मार डाले जाते है। अपने धर्म के दुश्मनों को जलती आग में फेंकने की बात अब भी देखी जाती है।

एक देश और एक खून मनुष्य को भाई-भाई बनाते हैं। खून का नाता तोड़ना अस्वाभाविक है, लेकिन हम हिन्दुस्तान में क्या देखते हैं? हिन्दुओं की सभी जातियों में, चाहे आरम्भ में कुछ भी क्यों न रहा हो अब तो एक ही खून दौड़ रहा है, क्या शकल देखकर किसी के बारे में आप बतला सकते हैं कि यह ब्राह्मण है और यह शूद्र। कोयले से भी काले ब्राह्मण आपको लाखों की तादाद में मिलेंगे। और शूद्रों में भी गेहुएँ रंग वालों का अभाव नहीं है। पास-पास में रहने वाले स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध, जाति की ओर से हजार रूकावट होने पर भी, हम आए दिन देखते हैं। कितने ही धनी खानदानों, राजवंशों के बारे में तो लोग साफ कहते हैं कि दास का लड़का राजा और दासी का लड़का राजपुत्र। इतना होने पर भी हिन्दू-धर्म लोगों को हजारों जातियों में बाँटे हुए है। कितने ही हिन्दू, हिन्दू के नाम पर जातीय एकता स्थापित करना चाहत हैं। किन्तु, वह हिन्दू जातीयता है कहाँ? हिन्दू जाति तो एक काल्पनिक शब्द है। वस्तुतः वहाँ है ब्राह्मण–ब्राह्मण भी नहीं, शाकद्वीपी, सनाढ्य जुझौतिया-राजपूत, खत्री, भूमिहार, कायस्थ, चमार आदि-आदि। एक राजपूत का खाना-पीना, ब्याह-श्राद्ध अपनी जाति तक सीमित रहता है। उसकी सामाजिक दुनिया अपनी जाति तक सीमित है। इसीलिए जब एक राजपूत बड़े पद पर पहुँचता है, तो नौकरी दिलाने, सिफारिश करने या दूसरे तौर से सबसे पहले अपनी जाति के आदमी को फायदा पहँचाना चाहता है। यह स्वाभाविक है। जबकि चौबीसों घण्टे मरने-जीने सब में साथ सम्बन्ध रखने वाले अपने बिरादरी के लोग हैं, तो किसी की दृष्टि दूर तक कैसे जायेगी?

कहने के लिए तो हिन्दुओं पर ताना कसते हुए इस्लाम कहता है कि हमने जात-पाँत के बन्धनों को तोड़ दिया। इस्लाम में आते ही सब भाई-भाई हो जाते हैं। लेकिन क्या यह बात सच है? यदि ऐसा होता तो आज मोमिन (जुलाहा), अप्सार (धुनिया), राइन (कुँजड़ा) आदि का सवाल न उठता। अर्जल और अशरफ का शब्द किसी के मुँह पर न आता। सैयद-शेख़, मलिक-पठान, उसी तरह का ख्याल अपने से छोटी जातियों से रखते हैं, जैसा कि हिन्दुओं के बड़ी जात वाले। खाने के बारे में छूतछात कम है और वह तो अब हिन्दुओं में भी कम होता जा रहा है। लेकिन सवाल तो है-सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्र में इस्लाम की बड़ी जातों ने छोटी जातों को क्या आगे बढ़ने का कभी मौका दिया? धार्मिक नेता हों, तो बड़ी-बड़ी जातों से शाही दरबार और सरकारी नौकरियाँ सभी जगहें बड़ी जातों के लिए सुरक्षित रहीं। जमींदार, ताल्लुकेदार, नवाब सभी बड़ी जातों के हैं। हिन्दुस्तानियों में से चार-पाँच करोड़ आदमियों ने हिन्दुओं के सामाजिक,आर्थिक और धार्मिक अत्याचारों से त्राण पाने के लिए इस्लाम की शरण ली। लेकिन, इस्लाम की बड़ी जातों ने क्या उन्हें वहाँ पनपने दिया? सात सौ बरस बाद भी आज गाँव का मोमिन जमींदारों और बड़ी जातों के जुर्म का वैसा ही शिकार है, जैसा कि उसका पड़ोसी कानू-कुर्मी। हिन्दुओं से झगड़ कर अंग्रेजों की खुशामद करके कौन्सिलों की सीटों, सरकारी नौकरियों में अपने लिए संख्या सुरक्षित करायी जाती है। लेकिन जब उस संख्या को अपने भीतर वितरण करने का अवसर आता है, तब उनमें से प्रायः सभी को बड़ी जाति वाले सैयद और शेख अपने हाथ में ले लेते हैं। साठ-साठ, सत्तर-सत्तर फीसदी संख्या रखने वाले मोमिन और अन्सार मुँह ताकते रह जाते हैं। बहाना किया जाता है कि उनमें उतनी शिक्षा नहीं। लेकिन सात सौ और हजार बरस भी यदि वे शिक्षा में इतने पिछड़े हुए हैं, तो इसका दोष किसके ऊपर है? उन्हें कब शिक्षित होने का अवसर दिया गया? जब पढ़ाने का अवसर आया, छात्रवृत्ति देने का मौका आया, तब तो ध्यान अपने भाई-बन्धुओं की तरफ चला गया। मोमिन और अन्सार, बावर्ची और चपरासी, खिदमतगार हुक्काबरदार के काम के लिए बने हैं। उनमें से कोई यदि शिक्षित हो भी जाता हैं, तो उसकी सिफारिश के लिए अपनी जाति में तो वैसा प्रभावशाली व्यक्ति है नहीं, और, बाहर वाले अपने भाई-बन्धु को छोड़कर उन पर तरजीह क्यों देने लगे? नौकरियों और पदों के लिए इतनी दौड़धूप, इतनी जद्दोजहद सिर्फ खिदमते-कौम और देश सेवा के लिए नहीं है, यह है रुपयों के लिए, इज्जत और आराम की जिन्दगी बसर करने के लिए।

हिन्दू और मुसलमान फरक-फरक धर्म रखने के कारण क्या उनकी अलग जाति हो सकती है? जिनकी नसों में उन्हीं पूर्वजों का खून बह रहा है जो इसी देश में पैदा हुए ओर पले, फिर दाढ़ी और चुटिया, पूरब और पश्चिम की नमाज क्या उन्हें अलग कौम साबित कर सकती है? क्या खून पानी से गाढ़ा नहीं होता? फिर हिन्दू और मुसलमान के फरक से बनी इन अलग-अलग जातियों को हिन्दुस्तान से बाहर कौन स्वीकार करता है? जापान में जाइये या जर्मनी, ईरान जाइये या तुर्की सभी जगह हमें हिन्दी और 'इण्डियन' कहकर पुकारा जाता है। जो धर्म भाई को बेगाना बनाता है, ऐसे धर्म को धिक्कार ! जो मजहब अपने नाम पर भाई का खून करने के लिए प्रेरित करता हैं, उस मजहब पर लानत ! जब आदमी चुटिया काट दाढ़ी बढ़ाने भर से मुसलमान और दाढ़ी मुड़ा चुटिया रखने मात्र से हिन्दू मालूम होने लगता है, तो इसका मतलब साफ है कि यह भेद सिर्फ बाहरी और बनावटी है। एक चीनी चाहे बौद्ध हो या मुसलमान, इसाई हो या कनफूसी, लेकिन उसकी जाति चीनी रहती है, एक जापानी चाहे बौद्ध हो या शिन्तो-धर्मी, लेकिन उसकी जाति जापानी रहती है, एक ईरानी चाहे वह मुसलमान हो या जरतुस्त, किन्तु वह अपने लिए ईरानी छोड़ दूसरा नाम स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। तो हम–हिन्दियों के मजहब को टुकड़े-टुकड़े में बाँटने को क्यों तैयार हैं और इस नाजायज हरकतों को हम क्यों बर्दाश्त करें?

धर्मों की जड़ में कुल्हाड़ा लग गया है, और, इसलिए अब मजहबों के मेलमिलाप की भी बातें कभी-कभी सुनने में आती हैं। लेकिन, क्या यह सम्भव है? "मजहब नहीं सिखाता आपस बैर रखना"-इस सफेद झूठ का क्या ठिकाना। अगर मजहब बैर नहीं सिखलाता तो चोटी-दाढ़ी की लड़ाई में हजार बरस से आज तक हमारा मुल्क पामाल क्यों है? पुराने इतिहास को छोड़ दीजिये, आज भी हिन्दुस्तान के शहरों और गाँवों में एक मजहब वालों को दूसरे मजहब वालों के खून का प्यासा कौन बना रहा है? कौन गाय खाने वालों से गोबर खाने वालों को लड़ा रहा है। असल बात यह है–"मजहब तो है सिखाता आपस में बैर रखना। भाई को है सिखाता भाई का खून पीना।" हिन्दुस्तानियों की एकता महजबों के मेल पर नहीं होगी, बल्कि मजहबों की चिता पर। कौए को धोकर हंस नहीं बनाया जा सकता। कमली धोकर रंग नहीं चढ़ाया जा सकता। मजहबों की बीमारी स्वाभाविक है। उसका, मौत को छोड़कर इलाज नहीं।

एक तरफ तो वे मजहब एक-दूसरे के इतने जबर्दस्त खून के प्यासे हैं। उनमें से हर एक-दूसरे के खिलाफ शिक्षा देता है। कपड़े-लत्ते, खाने-पीने, बोली-बानी, रीति-रिवाज में हर एक-दूसरे से उल्टा रास्ता लेता है। लेकिन, जहाँ गरीबों को चूसने और धनियों की स्वार्थ-रक्षा का प्रश्न आ जाता है, तो दोनों बोलते है। गदहा-गाँव के महाराज बेवकूफ बख्श सिंह सात

(पेज 10 पर जारी)

मनबहकी लाल के दो पद

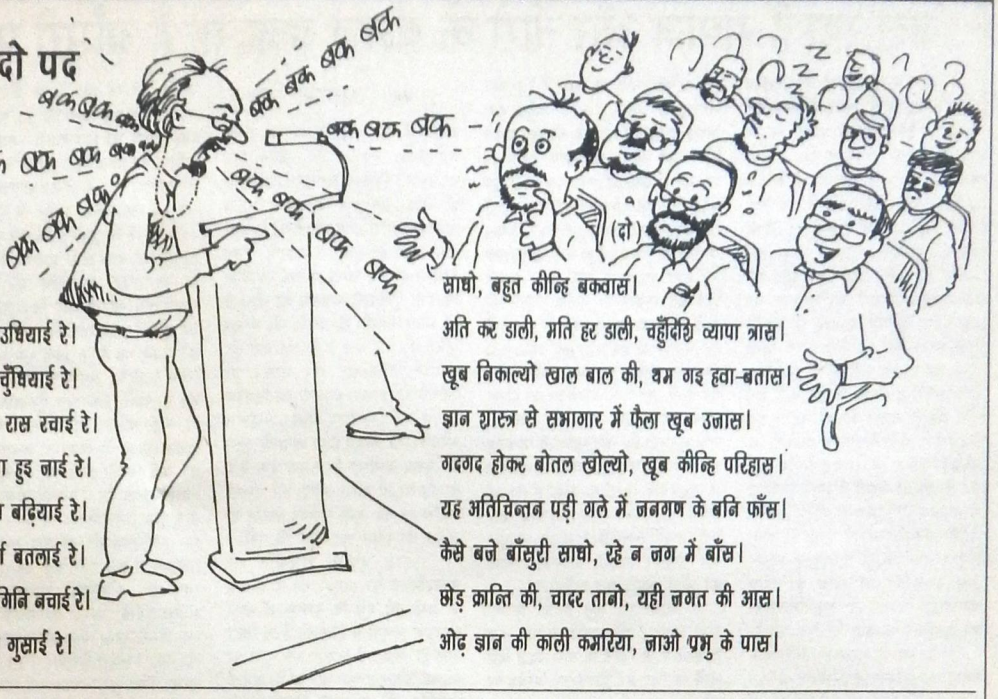

(एक)

संतो भाई, ज्ञान की आँधी आई रे।
भूसा-तूरी दाब के राख्यो, दाना सब उधियाई रे।
चिन्तन के इस चमत्कार से नैन गये चुँधियाई रे।
नित नव साखी-सबद सुनाये, बौद्धिक रास रचाई रे।
ऐसा मता-अगाध परोसिन्हि, लक्ष्य हवा हुइ जाई रे।
अमल धरम आले पे राख्यो, ऐसी मति बढ़ियाई रे।
जन को भूले, बैठ कक्ष में, मुक्ति-मार्ग बतलाई रे।
बिना करम चिन्तन-फल चाख्यो, माया ठगिनि बचाई रे।
अकल बहुरिया के मतवारे, भजते राम गुसाई रे।

(दो)

साधो, बहुत कीन्हि बकवास।
अति कर डाली, मति हर डाली, चहुँदिशि व्यापा त्रास।
खूब निकाल्यो खाल बाल की, बम गइ हवा-बतास।
ज्ञान शास्त्र से सभागार में फैला खूब उजास।
गदगद होकर बोतल खोल्यो, खूब कीन्हि परिहास।
यह अतिचिन्तन पड़ी गले में जनगण के बनि फाँस।
कैसे बजे बाँसुरी साधो, रहे न जग में बाँस।
छोड़ क्रान्ति की, चादर तानो, यही जगत की आस।
ओढ़ ज्ञान की काली कमरिया, जाओ प्रभु के पास।

'बक़लमे-खुद'

स्तम्भ के बारे में

-सम्पादक मण्डल

इस स्तम्भ के अन्तर्गत हम ज़िन्दगी की जद्दोजहद में जूझ रहे मज़दूरों और उनके बीच रहकर काम करने वाले मज़दूर संगठनकर्ताओं- कार्यकर्ताओं की साहित्यिक रचनाएं प्रकाशित करते हैं – कविताएं, कहानियां, डायरी के पन्ने, गद्यगीत आदि-आदि।

इस स्तम्भ की शुरुआत की एक कहानी है। 'बिगुल' के सभी प्रतिनिधियों-संवाददाताओं के अनुभव से यह जुड़ी हुई है। हमने पाया कि जो कुछ पढ़े-लिखे और उन्नत चेतना के मज़दूर हैं, वे गोर्की की 'मां', उनकी आत्मकथात्मक उपन्यास-त्रयी और अन्य रचनाओं को तो बेहद दिलचस्पी के साथ पढ़ते हैं, प्रेमचन्द उन्हें बेहद पसन्द आते हैं, आस्त्रोव्स्की की 'अग्निदीक्षा' और पोलेवोई की 'असली इंसान' ही नहीं, कुछ तो बाल्जाक ओर चेर्निशेव्स्की को भी मगन होकर पढ़ते हैं। लेकिन जब हम हिन्दी के आज के सिरमौर वामपंथी कथाकारों की बहुचर्चित रचनाएं उन्हें पढ़ने को देते हैं तो वे बेमन से दो-चार पेज पलटकर धर देते हैं। पढ़कर सुनाते हैं तो उबासी या झपकी लेने लगते हैं। यदि उन सबकी राय को समेटकर थोड़े में कहा जाये, तो इसका कारण यह है कि ज्यादातर वामपंथी-प्रगतिशील लेखक आज अप.ी रचनाओं में आम आदमी की ज़िन्दगी की, संघर्ष और आशा-निराशा की जो तस्वीर उपस्थित कर रहे हैं, वह आज की ज़िन्दगी की सच्चाइयों से कोसों दूर है। वह या तो ट्रेनों-बसों की खिड़कियों से देखे गये गांवों और मज़दूर बस्तियों का चित्र है, या फिर अतीत की स्मृतियों के आधार पर रची गयी काल्पनिक तस्वीर। नयेपन के नाम पर जो कला का इन्द्रजाल रचा जा रहा है, वह भी आम जनता के लिए बेगाना है। कारण स्पष्ट है। दरअसल इन तथाकथित वामपंथियों का बड़ा हिस्सा "वामपंथी कुलीनों" का है। ये "कलाजगत के शरीफजादे" हैं जो प्राय: प्रोफेसर, अफसर या खाते-पीते मध्यवर्ग के ऐसे लोग हैं जो जनता की ज़िन्दगी को जानने-समझने के लिए हफ्ते-दस दिन की छुट्टियां भी उसके बीच जाकर बिताने का साहस नहीं रखते। ये अपने नेहनीड़ों के स्वामी सद्गृहस्थ लोग हैं। ये गरुड़ का स्वांग भरने वाली आंगन की मुर्गियां हैं। ये फर्जी वसीयतनामा पेश करके गोर्की, लू शुन, प्रेमचन्द का वारिस होने का दम भरने वाले लोग हैं। समय आ रहा है जब क्रान्तिकारी लेखकों-कलाकारों की एकदम नई पीढ़ी जनता की ज़िन्दगी और संघर्षों के ट्रेनिंग-सेण्टरों से प्रशिक्षित होकर सामने आयेगी। इन कतारों में आम मज़दूर भी होंगे। भारत का मज़दूर वर्ग आज स्वयं अपना बुद्धिजीवी पैदा करने की स्थिति में आ चुका है। भारत का यह नया बुद्धिजीवी मज़दूर या मज़दूर बुद्धिजीवी सर्वहारा क्रान्ति की अगली-पिछली पांतों को नई मजबूती देगा। आज परिस्थितियां ऐसी हैं कि हम अपेक्षा करें कि भारतीय मज़दूर वर्ग भी अपना इवान बाबुश्किन और मक्सिम गोर्की पैदा करेगा। 'बिगुल' की कोशिश होगी कि वह ऐसे नये मज़दूर लेखकों का मंच बने और प्रशिक्षणशाला भी।

इसी दिशा में, पहलकदमी जगाने वाली एक शुरूआती कोशिश के तौर पर इस स्तम्भ की शुरूआत की गयी है। मुमकिन है कि मज़दूरों और मज़दूरों के बीच काम करने वाले संगठनकर्ताओं की इन रचनाओं में कलात्मक अनगढ़ता और बचकानापन हो, पर इनमें जीवित यथार्थ की ताप और रोशनी के बारे में आश्वस्त हुआ जा सकता है। ज़िन्दगी की ये तस्वीरें सच्ची वामपंथी कहानी का कच्चा माल भी हो सकती हैं। और फिर यह भी एक सच है कि हर नयी शुरुआत अनगढ़-बचकानी ही होती है। लेकिन मंजे-मंजाये घिसे-पिटे लेखन से या काल्पनिक जीवन-चित्रण के उच्च कलात्मक रूप से भी ऐसा अनगढ़ लेखन बेहतर होता है जिसमें जीवन की वास्तविकता और ताजगी हो। हमारा यह अनुरोध है कि मज़दूर साथी अपनी ज़िन्दगी की क्रूर-नंगी सच्चाइयों की तस्वीर पेश करने के लिए अब खुद कलम उठायें और ऐसी रचनाएं इस स्तम्भ के लिए भेजें। **साथ ही प्रकाशित रचनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया भी भेजें।**

इस अंक में हम एक मज़दूर **कार्यकर्ता जनार्दन** की कहानी छाप रहे हैं।

एक नया अहसास

• जनार्दन

सुबह के नौ बजने वाले हैं। आज ठण्ड कुछ ज्यादा है। सूरज चाँद की तरह दूधिया दिखायी दे रहा है। उसकी रोशनी में गर्मी का असर नहीं के बराबर है। रह-रह कर चल रही हवा हड्डियों में सूराख बनाने को आतुर है। फैक्ट्री का दैत्याकार मुँह पूरा खुला हुआ है। फैक्ट्री से सौ कदम दूर तक तारकोल के गैस की बदबू फैली हुई है। टैंक का तारकोल पिघल चुका है और लगातार विषैला धुआँ छोड़ रहा है। मशीन जल्दी ही स्टार्ट होने वाली है। ''वो देखो पोंगा आ रहा है।'' एक सत्रह वर्षीय लड़का चिल्लाया, सामने एक आकृति आती दिखायी पड़ती है। अधनंगी टाँगें, बाल आधे झड़ चुके हैं, मँझोला कद, चौड़ी छाती, इकहरा बदन है, कपड़ों के नाम पर फटा फुल स्वेटर, उसके नीचे कमीज ऊपर गुलबंद और नीचे पायजामा जोकि टाँगों को आधा ढँका है। 'ऐ पोंगा चल रील चढ़ा', इन्चार्ज ने अपने विशेष मशीनी अंदाज में कहा, तीन और हैल्परों की सहायता से दोनों तरफ रील चढ़ा दी गयी। अब पोंगा ने मशीन के पीछे के हिस्से वाले सारे काम सम्भाल लिये जिससे मशीन तेजी से चलनी प्रारम्भ हो गयी और वाटर प्रूफ पेपर तैयार होने लगा।

पूरे डेढ़ महीने बीत गये मुझे याद नहीं, कभी कुछ बात किया हो, पोंगा ने सिवाय इसके - 'ऐ इधर आओ, उधर पकड़ो, ऐसे करो, पुल्ली घुमाओ आदि। बाकी सभी बातचीत, हँसी मजाक में वह कभी शामिल नहीं होता। निश्चय ही वह हमसे कोई मतलब नहीं रखता, दोस्ती नहीं महसूस करता।

पिछले इतवार को एक दिन हम लोग झुग्गियों में पर्चा बाँटने का एक अभियान चलाते हुए लोगों से मिल-जुल रहे थे, पर्चे बाँट रहे थे। ये झुग्गियाँ एक नाले बन्धे पर बसी हैं। एक के ऊपर एक बनी टेढ़ी-मेढ़ी झुग्गियाँ, उसके ठीक बगल में ऊँची-ऊँची इमारतें, दूर से बहुत बड़ा कूड़ादान जैसा दिखायी पड़ रहा था। बन्धे की ढलान पर किसी का छत किसी के दरवाजे के नीचे और अन्दर जाने का रास्ता जैसे बच्चों के लुढ़कने के लिए बना हो। मुख्य रास्ता पूरा कीचड़ से भरा हुआ है जहाँ पर छोटा टापू सूखा है। वहाँ आग जलाकर मधुमक्खी की भाँति उस पर छाये हैं।

अगले दिन जब मैं काम पर गया तो पोंगा मुझसे मिला। उसका पथरीला चेहरा उल्लास से भरा था। आँखों में चमक थी। मिलते ही उसने पूछा 'कल तुम क्या कर रहे थे?'

मेरे अन्दर एक नयी ऊर्जा का संचार हुआ।

शीलचन्द एग्रो मज़दूर आन्दोलन ...

(पेज 6 से आगे)

बुलाकर 53 मज़दूरों को काम पर लेने की घोषणा की, जिसे मज़दूरों ने नकारते हुए सभी मज़दूरों को काम पर लेने की बात की। प्रशासन मालिक की बदमाशियों को जानते हुए और स्वीकार करते हुए भी मज़दूरों पर ही दोषारोपण कर रहा है। मालिक प्रशासन के सामने बेहयाई के साथ कह रहा है कि वेतन तो उसने दबाव में दिया है, लेकिन 31 के अलावा बाकी उनके मज़दूर नहीं हैं। 'संयुक्त मज़दूर संघर्ष मोर्चा' के प्रतिनिधियों से वार्ता के दौरान एक प्रशासनिक अधिकारी ने यहाँ तक कहा कि यदि छोटे कारखानों के मालिक अपने वहाँ नियम-कानून का पालन करने लगे तो वे दिवालिया हो जायेंगे। यही नहीं, स्थानीय न्यायालय ने 300 मीटर के स्थगनादेश पर बहस के दौरान यह स्वीकार करने के बावजूद कि प्रबन्धन गलतबयानी कर रहा है, प्रबन्धन के पक्ष में ही निर्णय सुना दिया। बहरहाल, स्थानीय निकाय चुनाव की आड़ में प्रशासन ने 20 जनवरी के बाद से वार्ताएं स्थगित रखी हैं। दूसरी तरफ भयानक ठण्ड में एक मामूली टेण्ट के नीचे मज़दूर दिन-रात मुस्तैदी से धरने पर डटे रहे। ठण्ड लगने से दो मज़दूर चिन्ताजनक स्थिति में अस्पताल में भी भर्ती कराये गये, लेकिन संवेदनशून्य प्रशासन मूकदर्शक बना रहा। राज्य के मुख्यमंत्री व श्रम मंत्री से भी मिल चुके मज़दूर अब अपने संघर्ष को जनान्दोलन बनाने का प्रयास कर रहे हैं। इसी क्रम में होण्डा व शीलचन्द के मज़दूरों ने जिलाधिकारी का घेराव करके, उनकी अनुपस्थिति में अतिरिक्त जिलाधिकारी को ज्ञापन भी सौंपा है।

शीलचन्द के वर्तमान मज़दूर आन्दोलन ने एक बार फिर यही प्रमाणित किया है कि उदारीकरण के इस दौर में शासन-प्रशासन-श्रम विभाग-न्यायालय सभी अब खुलकर मालिकों के पक्ष में खड़े हो गये हैं। उधर राष्ट्रव्यापी मज़दूर आन्दोलन की पस्ती के कारण मज़दूर आन्दोलन का भी कोई जबर्दस्त उभार नहीं बन पा रहा है। अलग-अलग कारखानों के संकटग्रस्त मज़दूरों का यदि कोई संघर्ष उठ भी रहा है तो वह भी अपने कारखाने तक ही सीमित होकर रह जा रहा है, जिसका कोई भी कारगर दबाव शासन तंत्र पर नहीं पड़ रहा है। इसी चुनौती का सामना शीलचन्द के मज़दूर भी कर रहे हैं। शीलचन्द के वर्तमान आन्दोलन में हालाँकि इलाकाई पैमाने पर तमाम जन संगठनों व ट्रेड यूनियनों का समर्थन प्राप्त है, लेकिन यह भागीदारी प्रतीकात्मक ही बनी हुई है। संगठित-असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों का इलाकाई पैमाने का कोई आन्दोलन ही उनके आन्दोलन को नयी गति प्रदान कर सकता है। आज के हालात की यही सबसे बड़ी माँग है।

जल रहा है समाज और नीरो के वंशज बजा रहे हैं बाँसुरी पर 'राग विलास'

● आनन्द देव

आने वाली पीढ़ियाँ जब इतिहास के पन्ने पलटेंगी तो जानेंगी कि जब देश में भूख से मौतें हो रही थीं, मजदूर-किसान परिवार सहित आत्महत्या कर रहे थे, बेरोजगार आत्मदाह कर रहे थे तो देश के दुक्मरान दुःख के सागर में खड़े किये अपने विलासिता के टापुओं पर 'हैप्पी बर्थ डे' का गीत गा रहे थे, केक काटे जा रहे थे, शैम्पेन की बोतलें खुल रही थीं। इक्कीसवीं सदी की शुरूआत का यह दृश्य विलासी राजाओं के घिनौने सुख-संसार को भी मात करने वाला होगा। यह रोम के नीरो को भी पीछे छोड़ देगा क्योंकि इस दृश्य में एक नहीं, कई नीरो बाँसुरी बजाते दिखाई पड़ेंगे। इस विद्रूप दृश्य में वे नेता सबसे आगे हैं, जो दलितों-शोषितों के स्वयंभू मसीहा बने बैठे हैं। पिछले बरसों में शाही समारोहों से लकदक ऐसी 'बर्थ-डे पार्टियाँ' अनेक हुई हैं। किस-किसकी चर्चा की जाये। बुर्जुआ राजनीति की सांस्कृतिक सड़ांध अब असहनीय हो चली है। आम मेहनतकश जनता इन नेता-नौकरशाहों की ऐयाशियों के बोझ तले पिस रही है।

उ0 प्र0 की मुख्यमंत्री मायावती ने विगत माह में जिस शानो-शौकत के साथ अपना जन्मदिन मनाया, उसे देख कर तो शायद पुराने जमाने के भोगी-विलासी राजे-रजवाड़े भी शरमा जायें। मायावती अपने को बहुत बड़ा दलित नेता मानती हैं। उनके जन्म-दिवस समारोह ने दलित मुक्ति को किन ऊँचाइयों पर पहुँचा दिया, यह तो वही जानें। यह जरूर है कि आम मेहनतकश जनता, जिसका बहुत बड़ा हिस्सा दलित जातियों से है, की खून-पसीने की कमाई की अच्छी खासी रकम इन समारोहों में स्वाहा हो गई। कहने को कुछ बुद्धिजीवी यह अश्लील तर्क दे सकते हैं कि ब्राह्मणवादी ताकतें जब भोग विलास में डूबी रह सकती हैं तो एक दलित नेता का शाही तरीके से जन्म दिन समारोह क्यों नहीं मनाया जा सकता! कहने को भाड़े के कलमघसीट यह कह सकते हैं कि मनुवादियों को यह फूटी आँखे नहीं सुहा रहा। लेकिन एक बहुत बड़ा सवाल यह है कि मायावती-कांशीराम का दलित मुक्ति का प्रोजेक्ट आखिकार किसकी सेवा कर रहा है? क्या यह इसी व्यवस्था की सेवा नहीं कर रहा? क्या सहस्राब्दियों से सताये गये दलितों के आक्रोश को यह अंधेरी गलियों की तरफ नहीं मोड़ रहा? क्या इनकी तथाकथित दलित संस्कृति और दैनन्दिन व्यवहार अभिजन समाजों की भौंड़ी नकल मात्र नहीं है?

सीधी सी बात है कि करोड़ों रुपये लगाकर यदि अम्बेडकर पार्क बना दिया जाय या जिलों के नाम बदल दिये जायें या फिर हर चौराहे पर अम्बेडकर की मूर्ति लगा दी जाये तो इससे दलित मुक्ति नहीं होने वाली। फासिस्टों की गोद में बैठकर सत्ता सुख भोगने से दलित की झोपड़ी में खुशहाली नहीं आने वाली। हाँ, इतना जरूर है कि एक समय तक गरीब दलित आबादी को भरमाया जा सकता है, जब तक कि व्यापक दलित मेहनतकश आबादी के सामने एक क्रान्तिकारी विकल्प का रास्ता नहीं रौशन हो जाता। तब तक ये चुनावी मदारी अपने करतबों से आम दलितों को बेवकूफ बना सकते हैं, जब तक मेहनती दलित आबादी को यह समझ में नहीं आ जाता कि इस पूँजीवादी व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर किसी भी प्रकार की दलित मुक्ति की बात बेमानी है। यह बात कि उत्पादन, राजकाज और समाज पर व्यापक मेहनतकश आबादी का नियंत्रण कायम करने के लिए जिस सामाजिक परिवर्तन को अंजाम दिया जाना हो आज का मुख्य कार्यभार है, उसके एक अंग के तौर पर ही दलित मुक्ति का, इंसानी स्वाभिमान का कोई प्रोजेक्ट कारगर हो सकता है। इससे इतर कुछ भी नहीं।

आज बुर्जुआ राजनीति की पतनशीलता का आलम यह है हम्माम के सभी नंगे जब कि हम्माम से बाहर लकदक कपड़ो में निकलते हैं तो बाहर आते ही आदत से मजबूर एक दूसरे पर कीचड़ उछालना शुरू कर देते हैं। बुर्जुआ राजनीति में नूरांकुश्ती के लिए भी चुनाबबाज नेताओं के पास मुद्दे नहीं रहे, कीचड़ उछालने के सिवा। मायावती जन्मदिन के जश्न के लिए रुपये बटोर रही होती हैं तो मुलायम सिंह उन पर आरोप लगाते हैं। जब मुलायम सिंह धन उगाही कर रहे होते हैं, तो ठीक वही आरोप मायावती उछालती हैं। मुलायम सिंह अपने को समाजवादी कहते हैं, लोहिया का योग्य शिष्य साबित करने की पूरी कोशिश करते हैं। लेकिन समाजवादियों की पतनगाथा लाख छुपाने के बावजूद इतनी सामने आ चुकी है कि उसे सुनकर ही उबकाई आने लगे। समाजवादी पार्टी के महासचिव अमर सिंह की महंगी पाँचसितारा पार्टियाँ आये दिन अखबारों की सुर्खियाँ बनती रहती हैं। समाजवादियों की स्थिति यह है कि इनके एक धड़े को आज फासिस्ट अपनी काँख में दबाये हुए हैं। जार्ज फर्नाण्डीस पूँजीपतियों के ही नहीं, बल्कि आर.एस.एस. के भी लाडले बने हुए हैं। दरअसल, समाजवादियों की यही नियति होनी थी। आजादी के आन्दोलन के दौर में आन्दोलन की गर्मी ने बुर्जुआ राजनीति पर भी असर डाला था। समाजवादियों का उस समय के मध्यवर्ग में एक सामाजिक आधार था। साथ ही, पूँजीवादी व्यवस्था को समाजवादियों, नकली वामपंथियों जैसी एक तीसरी सुरक्षा पंक्ति की आवश्यकता थी। आज निरंकुश पूँजीवाद में इस तीसरी सुरक्षा पंक्ति की जरूरत नहीं रही और न ही मध्यवर्ग का चरित्र अब वैसा रहा जैसा आजादी के दौर में था। मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा आज भूमण्डलीकरण का पैरोकार बना हुआ है और फासिस्टों के प्रभाव में है। नतीजतन, अब समाजवादियों के पास भी सत्ता की दलाली के अलावा और कोई राजनीतिक काम नहीं रहा। यह अकारण ही नहीं है कि राजनीति में अमर सिंह, जयंत मल्होत्रा जैसे लोगों की नई पौध बहुत तेजी से आगे बढ़ी है। जरा लोहिया, चरण सिंह से इनकी तुलना करक देखें। चरण सिंह के निधन के साथ ही बुर्जुआ राजनीति की इस धारा के पराभव और पतन की कहानी शुरू हो जाती है। बहरहाल, किसिम-किसिम के समाजवादी, दलितवादी, शोषितों-उत्पीड़ितों के स्वयंभू मसीहा अपनी ऐयाशियों, घिनौनी कारगुजारियों में मशगूल हैं। जब इस बिरादरी यह यह हाल है तो फासिस्टों की क्या चर्चा की जाये, उनकी तो जन्मकुण्डली में ही व्यक्तिपरक समारोही लालसा, विलासिता का एक अलग खाना बना रहता है। अपने को 'सुपर मैन' दिखाने के लिए उनकी नौटंकियाँ, उनकी ऐयाशियाँ जग प्रसिद्ध हैं।

मज़दूरों पर एक घातक हमले की साजिश ...

(पेज 5 से आगे)

बनाने के लिहाज से छंटनी हो रही है तो प्रत्येक वर्ष नौकरी के लिए 45 दिन और मुनाफे वाले संस्थानों में मुआवजे, यह राशि की गई नौकरी के हर साल के लिए 60 दिनों की मजदूरी देय होगी। रिपोर्ट में लिखा है कि "हम बंदी और छंटनी जैसे मामलों में कामगारों के प्रतिनिधियों से सलाह-मशविरा किए जाने की भी सिफारिश कर रहे हैं। लेकिन इन प्रतिनिधियों को प्रबंधन के किसी प्रस्ताव पर वीटो लगाने का अधिकार नहीं होगा" (6.90)।

ट्रेड यूनियन अधिकारों पर हमला

श्रम आयोग ट्रेड यूनियन अधिकारों में भारी कटौती की पेशकश करता है। आयोग 'ट्रेड यूनियन ऐक्ट 1926' के हालिया संशोधन (10 प्रतिशत या 100 श्रमिकों की सदस्यता के बगैर पंजीकरण नहीं) पर स्वीकृति की मुहर लगाते हुए सिर्फ असंगठित क्षेत्र के लिए इसके रूप बदलने की बात करता है। वह ट्रेड यूनियनों के विखण्डन पर घड़ियाली आँसू बहाते हुए उनकी संख्या कम करने की वकालत करता है और कहता है कि "विखण्डित ट्रेड यूनियनों के आपस में विलय की इच्छा मजबूत करने का एक तरीका यूनियनों के पंजीकरण और उनकी मान्यता के लिए योग्यता के पैमाने को बढ़ाकर हो सकता है" (6.59)। आयोग के अनुसार "किसी उद्योग या संस्थान में श्रमिकों की ओर से वार्ताकार यूनियन के रूप में उसी यूनियन को मान्यता दी जानी चाहिए जिसमें संबंधित उद्योग या संस्थान के 66 प्रतिशत सदस्य हों। यदि किसी भी यूनियन में 66 प्रतिशत सदस्य नहीं हैं तो एक वार्ताकार समूह बनाया जाना चाहिए जिसमें उन यूनियनों के प्रतिनिधि हों जिनमें उस संस्थान के 25 प्रतिशत से ज्यादा सदस्य हैं" (6.66)।

वार्ताकार यूनियन (बारगेनिंग एजेण्ट) की नियुक्ति के लिए आयोग के अनुसार "300 या ज्यादा श्रमिकों वाले किसी भी संस्थान में तमाम पंजीकृत ट्रेड यूनियनों के सदस्यों के लिए 'चेक ऑफ प्रणाली' (जहां कर्मकारों के वेतन से ही यूनियन का चंदा काटा जाता है) अनिवार्य बना दी जानी चाहिए" (6.73)। "300 से कम श्रमशक्ति वाले प्रतिष्ठानों में भी 'चेक ऑफ' प्रणाली को ही तरजीह दी जायेगी, लेकिन ऐसे संस्थानों में वार्ताकार यूनियन की पहचान करने का तरीका श्रम संबंध आयुक्तों द्वारा तय किया जा सकता है" (6.74)। "हम यह भी सिफारिश करते हैं कि वार्ताकार यूनियन या मण्डल को एक बार मान्यता मिल जाने के बाद यह चार सालों तक के लिए मान्य हो...'चेक ऑफ प्रणाली' के लिए श्रमिकों द्वारा इजाजत भी वार्ताकार यूनियन या मण्डल की मान्यता की अवधि तक जारी रहनी चाहिए" (16.101)। इसका सीधा अर्थ है कि श्रमिक वार्ताकार यूनियन का जबरिया सदस्य बनने के लिए मजबूर होगा। यही नहीं आयोग यह तक प्रस्तावित करता है कि 'सामूहिक सौदेबाजी के परिणाम स्वरूप होने वाले फायदे तमाम श्रमिकों को होते हैं, चाहे वे ट्रेड यूनियन के सदस्य हों या नहीं। श्रमिकों की ओर से बातचीत के लिए नियुक्त बारगेनिंग एजेण्ट द्वारा अपने सदस्यों से वसूला जाने वाला सदस्यता शुल्क या वार्ताकार संगठनों के समूहों में प्रचलित सर्वोच्च दर पर सदस्यता शुल्क उन कामगारों को भी चुकाना होगा जो किसी ट्रेड यूनियन के सदस्य नहीं हैं। इस तरह इकट्ठा राशि एक अनिवार्य कल्याण कोष में जमा कर दी जाएगी" (6.51)। आयोग हड़तालों पर अंकुश लगाते हुए लिखता है कि "हड़ताल का आह्वान मान्यता प्राप्त वार्ताकार यूनियन ही कर सकती है। वह भी तब जब इस सवाल पर तमाम कामगारों के बीच वह गुप्त मतदान कराए और इसमें कम से कम 51 प्रतिशत कामगार हड़ताल का समर्थन करें। ... अगर प्रबंधन को अपनी जान का या प्रतिष्ठान में तोड़फोड़ का खतरा लग रहा है तो वह बिना किसी की इजाजत के तालाबन्दी का ऐलान कर सकता है... हड़ताल या तालाबन्दी के पहले 14 दिनों की नोटिस देना जरूरी बनाया जाये। ... एक दिन की गैर कानूनी हड़ताल के लिए कामगार का तीन दिनों का वेतन काट लिया जाये। गैरकानूनी तालाबंदी के हर दिन के लिए प्रबंधन तीन दिनों का वेतन कामगारों को भुगतान करे। गैर कानूनी हड़ताल का नेतृत्व करने वाली यूनियन की मान्यता खत्म कर दी जाये और उन्हें पंजीकरण या मान्यता के लिए आवेदन करने से दो या तीन सालों के लिए प्रतिबंधित कर दिया जाए" (6.101)। आयोग का मानना है कि स्लो डाउन (धीमा कार्य) वर्क टू रूल (नियमानुसार काम) 'औद्योगिक शान्ति' के विरुद्ध है और इसे रोका जाये। आयोग 20 श्रमिकों से कम संख्या वाले संस्थान को लघु उद्यम की श्रेणी में रखने का प्रस्ताव देता है और ऐसे छोटे मालिकों को अपना कानून खुद बनाने की पेशकश करता है जिसके निरीक्षणकर्ता भी वे ही होंगे। आयोग सुपरवाइजर या जूनियर इंजीनियर स्तर को मजदूरों की श्रेणी व मिलने वाली सुविधाओं से वंचित करने का प्रावधान देता है।

इस प्रकार आयोग ने देशी-विदेशी मुनाफाखोरों की उन्हीं आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कानून बनाने की पेशकश की है जिनके लिए वे लम्बे समय से लालायित हैं। यह मजदूरों पर होने वाला अब तक का सबसे बड़ा हमला है। इस स्थिति को समझना होगा और संघर्ष के लिए कमर कस लेनी होगी।

तुम्हारे धर्म की क्षय

(पेज 8 से आगे)

पुश्त से पहले दर्जे के बेवकूफ चले आते है। आज उनके पास पचास लाख सालाना आमदनी की जमींदारी है जिसको प्राप्त करने में न उन्होंने एक धेला अकल खर्च की और न अपनी बुद्धि के बल पर उसे छै दिन चला ही सकते हैं। न वे अपनी मेहनत से धरती से एक छटाँक चावल पैदा कर सकते हैं, न एक कंकड़ी गुड़। महाराज बेवकूफ बख्श सिंह को यदि चावल, गेहूँ, घी, लकड़ी के ढेर के साथ एक जंगल में अकेले छोड़ दिया जाये, तो भी उनमें न इतनी बुद्धि है और न उन्हें काम का ढंग मालूम है कि अपना पेट भी पाल सकें, सात दिन में बिल्ला-बिल्ला कर जरूर वे वहीं मर जायेंगे। लेकिन आज गदहा-गाँव के महाराज दस हजार रूपया महीना तो मोटर के तेल में फूँक डालते हैं। बीस-बीस हजार रुपए जोड़े कुत्ते उनके पास हैं। दो लाख रूपये लगाकर उनके लिए महल बना हुआ है। उन पर अलग डाक्टर और नौकर हैं। गर्मियों में उनके घरों में बरफ के टुकड़े और बिजली के पंखे लगते है। महाराज के भोजन-छाजन की तो बात ही क्या? उनके नौकरों के नौकर भी घी-दूध में नहाते हैं, और जिस रुपये को इस प्रकार पानी की तरह बहाया जाता है, वह आता कहाँ से है? उसे पैदा करने वाले कैसी जिन्दगी बिताते हैं? - वे दाने-दाने को मोहताज हैं। उनके लड़कों को महाराज बेवकूफ बख्शसिंह के कुत्तों का जूठा भी यदि मिल जाये, तो वे अपने को धन्य समझें

लेकिन, यदि किसी धर्मानुयायी से पूछा जाय, कि ऐसे बेवकूफ आदमी को बिना हाथ-पैर हिलाये दूसरे की कसाले की कमाई को पागल की तरह फूँकने का क्या अधिकार है तो पण्डित जी कहेंगे - "अरे वे तो पूर्व की कमाई खा रहे हैं। भगवान की ओर से वे बड़े बनाये गये हैं। शास्त्र-वेद कहते हैं कि बड़े-छोटे के बनाने वाले भगवान् हैं। गरीब दाने-दाने को मारा-मारा फिरता है, यह भगवान् की ओर से उसको दण्ड मिला है।" यदि किसी मौलवी या पादरी से पूछिये तो जवाब मिलेगा-"क्या तुम काफिर हो, नास्तिक तो नहीं हो? अमीर-गरीब दुनिया का कारबार चलाने के लिए खुदा ने बनाये हैं। राजी-ब-रजा खुदा की मर्जी में इन्सान को दखल देने का क्या हक? गरीबी को न्यामत समझो। उसकी बंदगी और फरमाबरदारी बजा लाओ, कयामत में तुम्हें इसकी मजदूरी मिलेगी।" पूछा जाय-जब बिना मेहनत ही के महाराज बेवकूफ बख्श सिंह धरती पर ही स्वर्ग का आनन्द भोग रहे हैं तो ऐसे 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' के दरबार में बंदगी और फरमाबरदारी से कुछ होने-हवाने की क्या उम्मीद? उल्लू शहर के नवाब नामाकूल खाँ भी बड़े पुराने रईस हैं। उनकी भी जमींदारी है और ऐशो-आराम में बेवकूफ बख्श सिंह से कम नहीं हैं। उनके पाखाने की दीवारों में अतर चुपड़ा जाता है ओर गुलाब-जल से उसे धोया जाता है। सुन्दरियों और हुस्न की परियों को फँसा लाने के लिए उनके सैकड़ों आदमी देश-विदेशों में घूमा करते हैं। यह परियाँ एक ही दीदार में उनके लिए बासी हो जाती हैं। पचासों हकीम, डाक्टर और वैद्य उनके लिए जौहर, कुश्ता और रसायन तैयार करते रहते हैं। दो-दो साल की पुरानी शराबें पेरिस और लंदन के तहखानों से बड़ी-बड़ी कीमत पर मँगा कर रक्खी जाती हैं। नवाब बहादुर का तलवा इतना लाल और मुलायम है जितनी इन्द्र की परियों की जीभ भी न होगी। इनकी पाशविक काम-वासना की तृप्ति में बाधा डालने के लिए कितने ही पति तलवार के घाट उतारे जाते हैं, कितने ही पिता झूठे मुकदमों में फँसा कर कैदखाने में सड़ाये जाते हैं। साठ लाख सालाना आमदनी भी उनके लिए काफी नहीं है। हर साल दस-पाँच लाख रूपया और कर्ज हो जाता है। आपको G.C.S.I., G.C.I.E., फर्जिन्द-खास फिरंग - आदि बड़ी-बड़ी उपाधियाँ सरकार की ओर से मिली हैं। वायसराय के दरबार में सबसे पहले कुर्सी इनकी होती है और उनके स्वागत में व्याख्यान देने और अभिनन्दन पत्र पढ़ने का काम हमेशा उल्लू शहर के नवाब बहादुर और गदहा-गांव के महाराजा बहादुर को मिलता है। छोटे और बड़े दोनों लाट, इन दोनों रईसुल उमरा की बुद्धिमानी, प्रबन्ध की योग्यता और रियाया-परवरी की तारीफ करते नहीं अघाते। नवाब बहादुर की अमीरी को खुदा की बरकत और कर्म का फल कहने में पण्डित और मौलवी, पुरोहित और पादरी सभी एक राय हैं। रात-दिन आपस में तथा अपने अनुयायियों में खून-खराबी का बाजार गर्म रखने वाल, अल्लाह और भगवान् यहाँ बिलकुल एक मत रखते हैं। वेद और कुरान, इंजील और बायबिल की इस बारे में सिर्फ एक शिक्षा है। खून-चूसने वाली इन जोंकों के स्वार्थ की रक्षा ही मानो इन धर्मों का कर्त्तव्य हो। और मरने के बाद भी बहिश्त और स्वर्ग के सबसे अच्छे महल, सबसे सुन्दर बगीचे, सबसे बड़ी आँखों वाली हूरें और अपसराएँ, सबसे अच्छी शराब और शहद की नहरें उल्लू शहर के नवाब बहादुर तथा गदहा-गाँव के महाराज और उनके भाई-बन्धुओं के लिए रिजर्व हैं, क्योंकि उन्होंने दो-चार मस्जिदें, दो-चार शिवाले बना दिये हैं, कुछ साधु-फकीर और ब्राह्मण-मुजावर रोजाना उनके यहाँ हलवा-पूड़ी, कबाब-पुलाव उड़ाया करते हैं। गरीबों की गरीबी और दरिद्रता के जीवन का कोई बदला नहीं। हाँ, यदि वे हर एकादशी के उपवास, हर रमजान के रोजे तथा सभी तीरथ-व्रत, हज और जियारत बिना नागा और बिना बेपरवाही से करते रहे, अपने पेट को काटकर यदि पण्डे-मुजावरों का पेट भरते रहे, तो उन्हीं भी स्वर्ग ओर बहिश्त के किसी कोने की कोठरी तथा बची-खुची हूर-अप्सरा मिल जायेगी। गरीबों को बस इसी स्वर्ग की उम्मीद पर अपनी जिन्दगी काटनी है। किन्तु जिस सरग-बहिश्त की आशा पर जिन्दगी भर के दुःख के पहाड़ों को ढोना है, उस सरग-बहिश्त का अस्तित्व ही आज बीसवीं सदी के इस भूगोल में कहीं नहीं है। पहले जमीन चपटी थी। सरग इसके उत्तर के सात पहाड़ों ओर सात समुद्रों के पार पर था। आज तो न उसकी चपटी जमीन का पता है और न उत्तर के उन सात पहाड़ों और सात समुद्रों का। जिस सुमेरू के ऊपर इन्द्र की अमरवती क्षीरसागर के भीतर शेषशायी भगवान् थे, वह अब सिर्फ लड़कों के दिल बहलाने की कहानियाँ मात्र हैं। ईसाइयों और मुसलमानों के बहिश्त के लिए भी उसी समय के भूगोल में स्थान था। आजकल के भूगोल ने तो उनकी जड़ ही काट दी है। फिर उस आशा पर लोगों को भूखों रखना क्या भारी धोखा नहीं है।

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की तीन कविताएं

कसीदा इंक़लाबी के लिए

बहुतेरे बहुत अधिक हुआ करते हैं
वे गायब हो जाते, बेहतर होगा।
लेकिन वह गायब हो जाय, तो उसकी कमी खलती है।

वह संगठित करता है अपना संघर्ष
मजूरी, चाय-पानी
और राज्यसत्ता की खातिर।
वह पूछता है सम्पत्ति से :
कहां से आई हो तुम?

जहां भी खामोशी हो
वह बोलेगा
और जहां शोषण का राज हो
और किस्मत की बात की जाती हो
वह उंगली उठायेगा।

जहां वह मेज पर बैठता है
छा जाता है असन्तोष मेज पर
जायका बिगड़ जाता है
और कमरा तंग लगने लगता है।

उसे जहां भी भगाया जाता है,
विद्रोह साथ जाता है और जहां से उसे भगाया जाता है
असन्तोष रह जाता है।

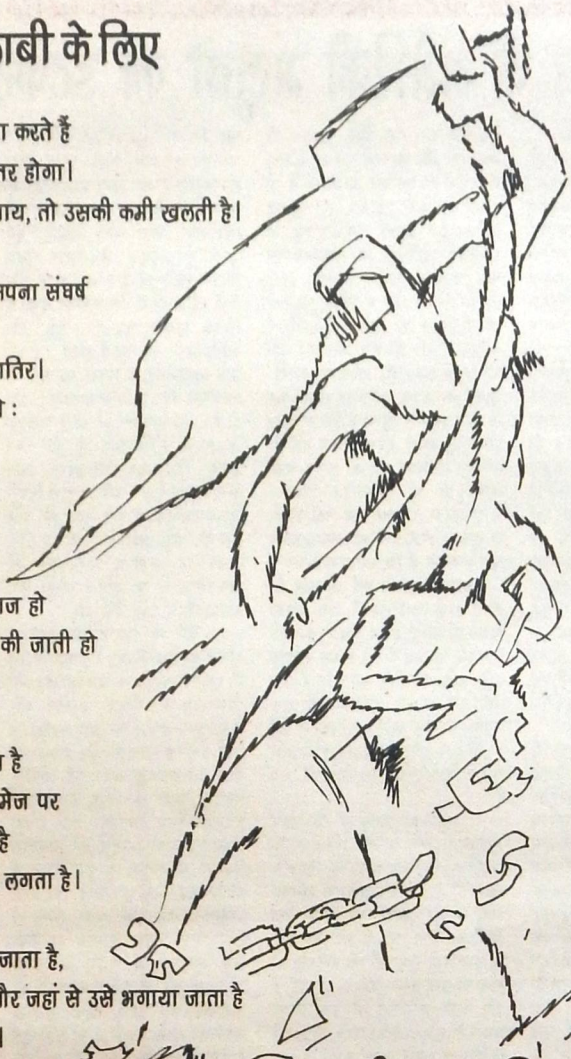

कसीदा द्वंद्ववाद के लिए

बढ़ती जाती है नाइन्साफी आज सधे क़दमों के साथ।
जालिमों की तैयारी है दस हज़ार साल की।
हिंसा ढाढ़स देती है : जैसा है, रहेगा वैसा ही।
सिवाय हुक्मरानों के किसी की आवाज़ नहीं
और बाज़ार में लूट की चीख : शुरूआत तो अब होनी है।
पर लूटे जाने वालों में से बहुतेरे कहने लगे हैं
जो हम चाहते हैं वो कभी होना नहीं।
गर ज़िन्दा हो अब तलक, कहो मत : कभी नहीं
जो तय लगता है, वो तय नहीं है।
जैसा है, वैसा नहीं रहेगा।
जब हुक्मरान बोल चुके होंगे
बारी आयेगी हुक्म निभाने वालों की।
किसकी हिम्मत है कहने की : कभी नहीं?
ज़िम्मेदार कौन है, अगर लूट जारी है? हम खुद।
किसकी ज़िम्मेदारी है कि वो ख़त्म हो? खुद हमारी।
जिसे कुचला गया उसे उठ खड़े होना है।
जो हारा, उसे लड़ते रहना है।
अपनी हालत जिसने पहचानी, रोकेगा कौन उसे?
फिर आज जो पस्त हैं कल होगी उनकी जीत
और कभी नहीं के बजाय गूंजेगा : आज अभी।

कसीदा कम्युनिज़्म के लिए

यह तर्कसंगत है, हर कोई इसे समझता है। यह आसान है।
तुम तो शोषक नहीं हो, तुम इसे समझ सकते हो।
यह तुम्हारे लिए अच्छा है, इसके बारे में जानो।
बेवकूफ़ इसे बेवकूफ़ी कहते हैं और गन्दे लोग इसे गन्दा कहते हैं।
यह गन्दगी के ख़िलाफ़ है और बेवकूफ़ी के ख़िलाफ़।
शोषक इसे अपराध कहते हैं।
लेकिन हमें पता है :
यह उनके अपराध का अन्त है।
यह पागलपन नहीं
पागलपन का अन्त है।
यह पहेली नहीं है
बल्कि उसका हल है।
यह वो आसान सी चीज़ है
जिसे हासिल करना मुश्किल है।

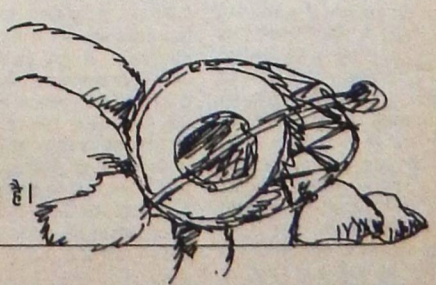

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट (1898-1956) : जर्मनी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी साहित्य चिन्तक, नाटककार और कवि।

पंजीयन संख्या - 71980/99, डाक पंजीयन संख्या - LW-NP/349/2001

साम्राज्यवाद मुर्दाबाद! दुनिया की जनता की एकजुटता ज़िन्दाबाद!!

अमेरिकी साम्राज्यवादी दुनिया के सबसे बड़े आतंकवादी हैं!

इराकी जनता के कत्लेआम के अमेरिकी मंसूबों का डटकर विरोध करो!!

अमेरिकी साम्राज्यवादी इराक पर युद्ध का कहर बरपा करने और कत्लेआम करने के हठ पर अडिग हैं। यूरोप, एशिया, अफ्रीका, लातिनी अमेरिका के लगभग सभी देशों की जनता, यहाँ तक कि अमेरिका की भी जनता हजारों-लाखों की तादाद में सड़कों पर उतर कर अमेरिकी शासकों के हत्यारे इरादों का विरोध कर रही है। महीनों से यह सिलसिला जारी है। लेकिन दुनिया का चौधरी बनने के लिए पगलाये अमेरिकी लुटेरे सभी चेतावनियों की अनसुनी कर रहे हैं। यह अनसुनी निश्चय ही अमेरिकी साम्राज्यवादियों को काफी मँहगी पड़ेगी। यह निश्चय ही, पूरी दुनिया पर पिछली एक सदी के दौरान लगातार युद्ध और लूट का कहर बरपा करने वाले साम्राज्यवादियों के समूचे गिरोह और उनके लग्गू-भग्गू पिछड़े देशों के पूँजीपति शासकों के लिए महँगी सिद्ध होगी। आज वे निश्चिन्त हैं, पर यह निश्चिन्तता हमेशा बनी नहीं रहेगी। मदमत्त बूढ़ा हाथी झूमता हुआ दलदल की ओर बढ़ा चला जा रहा है।

यह सच्चाई अब जगजाहिर हो चुकी है कि इराक के पास जनसंहारक रासायनिक-जैविक हथियारों का जखीरा होने का तर्क सिर्फ एक बहाना भर है। असल बात यह है कि यह लड़ाई खाड़ी क्षेत्र की तेल सम्पदा पर फैसलाकुन इजारेदारी के लिए लड़ी जा रही है। अफगानिस्तान में भी आतंकवाद के उन्मूलन और जनतंत्र बहाली के नाम पर अमेरिका के विनाशकारी हस्तक्षेप का बुनियादी मकसद कैस्पियन सागर के अथाह अनछुए तेल भण्डार तक अपनी पहुँच सुनिश्चित करना तथा एक सैनिक चेकपोस्ट बनाकर तेल-धनी ईरान पर गिद्ध दृष्टि लगाये रखना ही था। इसका एक और मकसद भारतीय उपमहाद्वीप तथा भूतपूर्व सोवियत संघ के घटक एशियाई देशों में जरूरत के मुताबिक, तुरन्त फौरी हस्तक्षेप के लिए एक अड्डा कायम करना भी था।

अमेरिका-ब्रिटेन का साम्राज्यवादी गँठजोड़ आज दुनिया में प्रतिक्रन्ति की लहर के हावी होने का फायदा उठाकर तेल सहित दुनिया के तमाम प्राकृतिक संसाधनों पर और पूरे विश्व-बाजार पर कब्जे के लिए, आर्थिक दबाव व घेरेबन्दी के हथकण्डों के साथ ही, सीधे सैनिक हस्तक्षेप और हमलों के लिए भी एकदम तैयार है। जनता के हर प्रतिरोध को कुचलने के मुद्दे पर दूसरी साम्राज्यवादी ताकतें भी अमेरिका के साथ हैं, लेकिन लूट के माल में अपने हिस्से को लेकर उनके भीतर काफी कसमसाहट है। मौजूदा विश्व-शक्ति-सन्तुलन के हिसाब से वे अभी दबी जुबान से अमेरिकी मंसूबों के प्रति असंतोष जाहिर कर रही हैं, लेकिन आने वाले वर्षों में इन साम्राज्यवादी लुटेरों के बीच तनाव का बढ़ना लाजिमी है और इनका टकराव दुनिया को फिर किसी विनाशकारी युद्ध में झोंक सकता है। तब इतिहास का स्थापित नियम एक बार फिर अपना रंग दिखायेगा या तो जनक्रान्तियाँ इस युद्ध को रोकेंगी, या फिर युद्ध जनक्रान्तियों के नये सिलसिले को जन्म देगा।

बहरहाल, अमेरिकी गुण्डागर्दी एक बार फिर यही सिद्ध कर रही है कि जब तक साम्राज्यवाद रहेगा, दुनिया पर युद्ध और तबाही का कहर बरपा करता रहेगा। इतिहास के इसी नियम का विकास फिर इस नियम के रूप में सामने आना ही है कि पूरी दुनिया की आम जनता अपने इस मुश्तरका दुश्मन के खिलाफ जरूर उठ खड़ी होगी और अब जब उठ खड़ी होगी तो जंग को फैसलाकुन अंजाम तक पहुँचाकर ही दम लेगी। अमेरिका के 'इराक युद्ध' का विश्वव्यापी जन-विरोध इसका एक छोटा-सा पूर्व-संकेत मात्र है। यह तय है कि युद्ध और जनसंहार के बूते अवाम को हमेशा के लिए गुलाम बनाकर नहीं रखा जा सकता। हथियारों के बड़े से बड़े जख़ीरे जनसंघर्षों के समुद्र में डूब जाते हैं। युद्ध के स्रोत को खत्म करने वाली जनक्रान्तियों का दावानल एक बार फिर अवश्य ही भड़केगा। और यह चाहे पश्चिम एशिया में भड़के या लातिनी अमेरिका में या दक्षिण एशिया में, एक बार जब भड़केगा तो इस बार इसकी लपटें दुनिया के सामराजी शहंशाहों के नन्दन-कानन तक लपककर पहुँच जायेंगी, इतना तय है। तूफान आने में जितनी देर लग रही है,तूफान की प्रचण्डता उतनी ही अधिक होगी। इतिहास की अब तक की सबसे बेशर्म और हास्यास्पद दलील शायद यह है कि अमेरिका आतंकवाद के उन्मूलन और विश्व शान्ति के लिए इराक पर हमले की बात कर रहा है। हथियार निरीक्षक दल को चप्पा-चप्पा छानने पर भी रासायनिक-जैविक-परमाणविक हथियार जब नहीं मिले, तो एकदम कठदलीली पर आमादा होकर बुश कह रहा है कि उसे पक्का पता है कि इराक के पास ऐसे हथियार हैं, जिन्हें उसने छिपा रखा है, अतः हमला करना ही होगा। इससे बचाव का एक विकल्प वह यह दे रहा है कि सद्दाम हुसैन सत्ता त्यागकर देश छोड़ दें और वहाँ नयी सरकार सत्तारूढ़ हो (जो जाहिरा तौर पर अमेरिकी पिट्ठुओं की ही होगी)। इससे अमेरिकी इरादे और जंग के मकसद एकदम साफ हो जाते हैं।

अमेरिकी डाकुओं के पास आखिर इस बात का क्या जवाब है कि सद्दाम हुसैन को ईरान के खिलाफ लड़ने के लिए तमाम विनाशक हथियार और करोड़ों डालर की मदद क्या अमेरिका ने ही नहीं दी थी? इस बात के दस्तावेजी सुबूत हैं कि इस्रायल के पास भी रासायनिक-जैविक हथियार हैं और स्वयं अमेरिका के पास इनका सबसे बड़ा जखीरा है। शस्त्र-निरीक्षकों के दल तो सबसे पहले अमेरिका और इस्रायल भेजे जाने चाहिए। यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि हिटलरकालीन जर्मनी और अमेरिका ही रासायनिक-जैविक अस्त्रों के पहले उत्पादक थे और आज भी इसकी तकनीक मुख्यतः पश्चिमी देशों के ही पास है। अमेरिका के पास पूरी दुनिया को नष्ट कर सकने वाले परमाणु अस्त्रों का जखीरा है और अन्य साम्राज्यवादियों के पास भी है। क्या सबसे पहले उन्हें नहीं नष्ट किया जाना चाहिए! पूरी दुनिया को हथियार बेचनेवाला सबसे बड़ा व्यापारी भी अमेरिका ही है और सभी साम्राज्यवादी देश हथियार बेचते हैं जिनसे दुनिया भर में युद्ध और आतंकवादी कार्रवाइयाँ होती है। इस तरह आतंकवाद के सबसे बड़े स्रोत तो अमेरिका और अन्य साम्राज्यवादी देश ही हैं। अफगानिस्तान में पहले इस्लामी कट्टरपंथी मुजाहिदीनों की और फिर उनके खिलाफ तालिबान और अल-कायदा की अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने पूरी मदद की और जब वे 'भस्मासुर' बन गये तो फिर उन्हीं के सफाये के नाम पर अफगानिस्तान पर हमला करके वहाँ कठपुतली हुकूमत बैठा दी।

वैसे भी देखें तो अमेरिका ही दुनिया का सबसे बड़ा आतंकवादी देश है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद कोरिया और वियतनाम में सैनिक हस्क्षेप और कत्लेआम, क्यूबा की चार दशकों से जारी आर्थिक घेरेबन्दी और कास्त्रो की हत्या व तख्तापलट की दर्जनों साजिशें, चीले में विद्रोह कर सत्ता कब्जा करने में तानाशाह पिनोशे की मदद, निकारागुआ और अंगोला की लोकप्रिय सरकारों के विरुद्ध गृहयुद्ध छेड़ने में प्रतिक्रियावादियों की मदद, ईरान के अत्याचारी शाह को दमन करने के लिए भरपूर मदद, लातिनी अमेरिका और अफ्रीका में दर्जनों अत्याचारी तानाशाहों की कठपुतली सत्ताओं की स्थापना–यह सारा खूनी रिकार्ड अमेरिकी साम्राज्यवादियों के नाम दर्ज है। पिछली लगभग आधी सदी के दौरान क्षेत्रीय युद्धों और गृहयुद्धों को भड़का कर, सैनिक हस्तक्षेप और आर्थिक घेरेबन्दी द्वारा तथा गरीब देशों की अर्थव्यवस्थाओं को तबाह करके भुखमरी, गरीबी और बीमारियों द्वारा अकेले अमेरिकी साम्राज्यवादी जितने लोगों को मौत का निवाला बना चुके हैं उतने लोग विगत दो विश्वयुद्धों के दौरान भी नहीं मारे गये थे। अकेले इराक में पिछले दस वर्षों की अमेरिकी बमबारी और आर्थिक घेरेबन्दी के चलते लाखों लोग मौत के शिकार हो चुके हैं और पूरी आम जनता की जिन्दगी नर्क हो गयी है। इंसाफ की बात तो यह है कि दस्तावेजी सुबूतों के आधार पर रीगन, क्लिंटन, बुश सीनियर और बुश जूनियर को युद्ध अपराधी घोषित करके एक अन्तर्राष्ट्रीय ट्रिब्यूनल के सामने उन पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए। लेकिन आज की विश्व-व्यवस्था में मुजरिम ही मुद्दई हैं, मुंसिफ हैं और वकील हैं और हर हाल में यह अदालत अवाम को ही सजा सुनाती है। इराक पर अमेरिकी ज़ोरो-जुल्म के खिलाफ पूरी दुनिया की जनता का जो बेपनाह गुस्सा है, उसका कहर एक न एक दिन सिर्फ अमेरिकी साम्राज्यवादियों पर ही नहीं, बल्कि पूरी विश्व-पूँजीवादी व्यवस्था पर जरूर ही टूटेगा।

हम पूरी दुनिया की जनता के साथ मिलकर इराकी जनता के साथ एकजुटता प्रदर्शित करने के लिए और अमेरिकी हत्यारे मंसूबों का पुरजोर विरोध करने के लिए पूरे भारत की जनता का आह्वान करते हैं। साथ ही, हमें आज ही अपने दूरगामी ऐतिहासिक कार्यभार को पूरा करने के लिए पूरी ताकत लगाकर जुट जाने का संकल्प लेना होगा। यह दूरगामी काम है, साम्राज्यवाद को तबाह करने वाली विश्व क्रान्ति में अपनी भूमिका निभाना। सभी युद्धों और सभी तबाहियों के इस मूल स्रोत को क्रान्तिकारी युद्ध द्वारा तबाह कर डालना ही एकमात्र विकल्प है। याचनाओं और शान्तिपाठ से साम्राज्यवादी लुटेरों का न तो कभी हृदय-परिवर्तन हुआ है और न ही होगा।

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ,

बिगुल मज़दूर दस्ता

दिशा छात्र संगठन

नौजवान भारत सभा

की ओर से प्रसारित

गणतंत्र दिवस के दिन सरकारी तेल कम्पनियों को बेचने की घोषणा :यही तो है बुर्जुआ गणतंत्र का असली चेहरा

(बिगुल संवाददाता)

जब दुनिया भर में "तेल के लिए युद्ध नहीं" के नारे बुलंद हो रहे थे, उसी समय में ऐन गणतंत्र दिवस के दिन भारत के हुक्मरान सरकारी तेल कम्पनियों को बेचने की घोषणा कर रहे थे। तेल की अहमियत कितनी है, यह इसी बात से पता चल जाता है कि अमेरिका ने तेल के लिए अफगानिस्तान को बमों से पाट दिया और अब इराक में नरसंहार करने पर आमादा है। लेकिन हिन्दुस्तान का शासक वर्ग तो स्वयं उस ओर कदम बढ़ा रहा है, जो रास्ता एक नये किस्म की आर्थिक गुलामी का है। आर्थिक नव उपनिवेशवाद के शिकंजे को वह ढोल-बाजे और बेशर्मी के साथ इस देश की आम जनता के गले पर कस रहा है। लोक लाज को त्यागकर ये हुक्मरान ठीक छब्बीस जनवरी को यह घोषणा करते हैं कि हिन्दुस्तान पेट्रोलियम और भारत पेट्रोलियम का विनिवेश कर दिया जायेगा। यानी आधी-अधूरी ही सही जो आजादी सन् सैंतालीस में मिली थी, उसको गिरवी रखने का यह एक महत्वपूर्ण कदम है।

कौन नहीं जानता कि विगत वर्षों में जिन सरकारी उपक्रमो को विनिवेश के नाम पर बेचा गया, उन्हें देशी-विदेशी मुनाफाखोरों ने माटी के मोल खरीदा है। दरअसल, खुल्लमखुल्ला पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी का काम कर रही सरकार ने यह पहले ही सुनिश्चित कर लिया कि वे उपक्रम औने-पौने दामों पर धनकुबेरों को "नसीब" हो जायें। इस बार भी सरकार ने यह व्यवस्था पहले से ही कर दी है कि हिन्दुस्तान पेट्रोलियम के शेयर माटी के मोल बिकें। उसने ओ.एन.जी.सी. (तेल और प्राकृतिक गैस निगम) को विशेष तौर पर शेयरों की बोली लगाने के लिए स्पष्ट मनाही कर दी है। ओ.एन.जी.सी. यदि खरीदार के तौर पर शामिल होती तो यह उम्मीद थी कि शेयरों की ऊँची बोली लगती।

जनता के खून-पसीने से खड़ा किये गये सरकारी उपक्रमों को बेचते हुए आम जनता से सहमति लेना तो दूर, सरकार इन्हें ऐसे बेच रही है, जैसे कि ये उसकी बपौती हों। आजादी के समय इस देश के पूँजीपतियों की यह औकात नहीं थी कि ये अपने दम पर भारी उद्योगों का ताना-बाना खड़ा करते और न ही उनकी इच्छा थी कि वे ऐसी जगह अपना धन लगायें, जहाँ उन्हें तुरन्त मुनाफा न मिलता हो। इसीलिए उस समय समाजवाद का नारा उछाला गया। जनता से कहा गया कि अब आजादी मिल गयी है, तो देश को आगे बढ़ाने के लिए वह खून-पसीना एक करे। देश की मेहनतकश जनता ने, जो उस समय तक इस असलियत को नहीं समझ पायी थी कि असली आजादी तो मुट्ठी भर लुटेरों के हाथों में सिमट गयी है, हाड़तोड़ मेहनत कर अवरचनागत उद्योगों का विशाल और व्यापक ताना-बाना खड़ा किया। सरकार ने आम जनता से परोक्ष करों की वसूली द्वारा सरकारी सम्पदा का निर्माण किया। मेहनतकश जनता को निचोड़कर सरकारी उपक्रमों का जाल बिछाया गया। यह सब उस समय इसीलिए किया गया कि पूँजीपति इसी तरीके से अपनी जड़ मजबूती से जमा सकते थे।

आज हिन्दुस्तान के पूँजीपतियों को पब्लिक सेक्टर की जरूरत नहीं रही। भूमण्डलीकरण के इस दौर में मुनाफे की हवस में पगलाये धनकुबेरों ने साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर हिन्दुस्तान को लूटने की नई तरकीबें ईजाद कर ली हैं। पूँजीपतियों की इच्छापूर्ति के लिए सरकार ने नई आर्थिक नीतियां लागू कीं। उदारीकरण-निजीकरण की बातें होने लगीं। 'पब्लिक सेक्टर' के नाकारेपन के तर्क मीडिया में उछलने लगे। सरकार यह राग अलापने लगी कि "देशहित" में सरकारी उपक्रमों का विनिवेश जरूरी है। देशी-विदेशी धनपशुओं के इशारों पर एक के बाद एक सरकारी उपक्रमों को बेचा जाने लगा। मजेदार बात यह है कि देश के साथ, आम मेहनतकश जनता के साथ गद्दारी कर रहे सत्ता में बैठे लोग अपने को सबसे बड़ा राष्ट्रभक्त बता रहे हैं। शायद यह जरूरी भी हो, क्योंकि गद्दारों को ही अपनी राष्ट्रभक्ति बार-बार बताने की जरूरत पड़ती है।

बहरहाल, हिन्दुस्तान पेट्रोलियम और भारत पेट्रोलियम के बिकने से, तेल के क्षेत्र में देशी-विदेशी पूँजी की जकड़ के दूरगामी नतीजे होंगे। परिवहन, रेलवे, दूरसंचार, तेल, कोयला आदि ये ऐसे क्षेत्र हैं, जो किसी भी देश की रीढ़ होते हैं। इन पर कब्जा जमाने के बाद उस देश की आर्थिक-राजनीतिक नीतियों को अपने हिसाब से संचालित किया जा सकता है। साम्राज्यवाद यही तो चाहता है कि बिना फौज-फाटे के, लोकतंत्र का नाटक रचते हुए, व्यापार के नाम पर वह उस देश की आर्थिक-राजनीतिक स्वतंत्रता को अपनी मुट्ठी में कर ले। हिन्दुस्तान के हुक्मरानों से साम्राज्यवाद को मुँह माँगी मुराद मिल रही है।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ।
संपादक मण्डल : डा. दूधनाथ, मुकुल। सम्पादकीय पता : 69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006, सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ।